विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्था: पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धव्यमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र व्यवहार करने का पता :—

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,

हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, बंगाल।

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२६ | खण्ड १०, अंक ३ | अक्टूबर-दिसंबर १९६९

विषय सूची

सूचना—पत्रिका के खण्ड १० का अंक २ (गांधी-जन्म-शती विशेषांक) प्राय तैयार है। शीघ्र ही पाठकों की सेवा में प्रेषित किया जावेगा। विलम्ब के लिए क्षमा प्रार्थी हैं। —संपा०

इस अंक के लेखक (अकारादि क्रम से)

अजितनारायण सिंह तोमर, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

अम्बाशंकर नागर, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद।

गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र', अध्यापक, हिन्दी विभाग, भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर।

जयभगवान गोयल, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी पोस्ट ग्रेजुएट सेंटर, रोहतक।

पुरुषोत्तम शर्मा, अध्यापक, हिन्दी विभाग, पंजाब यूनिवर्सिटी ईवनिंग कालेज,
जालंधर शहर, पंजाब।

प्रेमकान्त टंडन, अध्यापक, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी, इलाहाबाद।

रमेश कुंतल मेघ, रीडर इन्चार्ज, पंजाब यूनिवर्सिटी, (हिन्दी) कॉ. द्वाबा कालेज,
जालन्धर शहर, पंजाब।

रामपूजन तिवारी, अध्यापक, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शांतिनिकेतन।

रामसिंह तोमर, अध्यक्ष, हिन्दी भवन, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

वातायन पर]　　　　[शिल्पी　अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०२६ खण्ड १०, अंक ३ अक्टूबर-दिसंबर, १९६९

अनुमान

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

पाछे देखि तुमि आस नि ताइ
आधेक आँखि मुदिये चाइ—
भये, चाइ ने फिरे।
आमि देखि येन आपन-मने
पथेर शेषे दूरेर वने
आसछ तुमि धीरे।
येन चिनते पारि सेइ अशान्त
तोमार उत्तरीयेर प्रान्त
ओड़े हावार 'परे।
आमि एकला बसे मने गणि
शुनछि तोमार पदध्वनि
मर्मरे मर्मरे।

भोरे नयन मेले अरुण-रागे
यखन आमार प्राणे जागे
अकारणेर हासि,
यखन नवीन तृणे लताय गाछे
कोन् जोयारेर स्रोते नाचे
सबुज सुधाराशि—

यखन नवमेघेर सजल छाया
येन रे कार मिलन माया
घनाय विश्व जुड़े।
यखन पुलके नील शैल घेरि
बेड़े ओठे काहार भेरी
ध्वजा काहार उड़े—

तखन मिथ्या सत्य केह ना जाने,
सन्देह आर केह ना माने,
भुल यदि हय होक—
ओगो, जानि ना कि आमार हिया
के भुलालो परश दिया,
के जुड़ालो चोख।
से कि तखन आमि छिलेम एका ?
केउ कि मोरे देय नि देखा ?
केउ आसे नाइ पिछे ?
तखन आकाश हते सहास आँखि
आमार मुखे चाय नि नाकि ?
ए कि एमन मिछे ?

बोलपुर, १९०६ ई०]

गुजरात के सूफ़ी कवियों की हिन्दी-कविता

अम्बाशंकर नागर

गुजरात ने हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में प्रशंसनीय योग दिया है, यहाँ के वैष्णव कवियों ने व्रजभाषा में, साधु-संतों ने सधुक्कड़ी हिन्दी में, राजाश्रित चारणों ने डिंगल में और सूफ़ी संतों ने हिन्दवी या गूजरी-हिन्दी में सुन्दर साहित्य का सृजन किया है।

गुजरात के सूफ़ी कवियों और उनकी कृतियों के अध्ययन की ओर अभी बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। जिन विद्वानों ने इस ओर ध्यान दिया है वे प्रायः उर्दू के विद्वान हैं और उन्होंने जो कुछ लिखा है वह उर्दू साहित्य के अंचल में ही आवृत्त है। उनमें से कुछ ने इन कवियों और उनकी कृतियों को उर्दू क़रार दिया है, जो सर्वथा अनुचित है। उर्दू तो बहुत बाद की वस्तु है। १७ वीं शती से पूर्व की भाषा को उर्दू कहना भ्रांतिपूर्ण है। ख़ुसरो से वली तक की हिन्दवी, गूजरी और दकनी भाषा परंपरा वह मूल उत्स है जिससे आगे चलकर हिन्दी और उर्दू दोनों का विकास हुआ है। अतः हिन्दवी भाषा और उसके साहित्य को उर्दू मान बैठना उचित नहीं। उसका जितना संबंध उर्दू से है उससे कहीं अधिक संबंध हिन्दी से है। दकनी हिन्दी के अध्ययन से यह तथ्य सिद्ध हो चुका है। गूजरी-हिन्दी, हिन्दवी और दकनी के बीच की कड़ी और दकनी का पूर्व रूप है। इस भाषा का तथा इसमें १४ वीं से १७ वीं शती तक रचे गये साहित्य का अध्ययन अभी शेष है। इसके अनुशीलन से हिन्दवी और दकनी के बीच की टूटी कड़ी जुड़ेगी और खड़ी बोली के विकास पर पुनर्विचार करने के लिए निश्चय ही नए तथ्य समुपलब्ध होंगे।

गूजरी भाषा

खड़ीबोली या हिन्दी हिन्दवी का सबसे प्राचीन एवं प्रांजल स्वरूप अमीर ख़ुसरो की कृतियों में मिलता है। अमीर ख़ुसरो (उपस्थिति १३२५ ई०) ने ख़ालिक़बारी नाम से अरबी, फ़ारसी, तुरकी और हिन्दवी के शब्दों और वाक्यों का एक काव्यमय पर्यायवाची कोश रचा था, इसमें खड़ी बोली हिन्दी के जिस निखरे हुए स्वरूप के दर्शन होते हैं वह फिर दीर्घकाल तक साहित्य में समुपलब्ध नहीं होता, उसके दर्शन बहुत बाद में दकनी में होते हैं। इसका एक कारण तो यह हो सकता है कि 'ख़ालिक़बारी' ख़ुसरो की प्रामाणिक रचना न होकर बहुत बादकी रचना हो। दूसरी संभावना यह भी हो सकती है कि हिन्दवी और दकनी के बीचकी भाषा परंपरा की कोई कड़ी ही लुप्त हो गई हो।

इधर गुजरात में सूफ़ी कवियों का जो विपुल साहित्य कुतुबखानों और मसजिदों में देखने में आया है उससे अनुमान होता है कि 'दक्नी' से पूर्व 'गूजरी' में साहित्य रचा गया था और यह 'गूजरी' भाषा ही सम्भवतः हिन्दवी और दक्नी के बीच की भाषा-परंपरा की कड़ी है।

यद्यपि सोलंकी युग में ही मुसल्मान व्यापारी और पीर औलिया गुजरात में तिजारत और तसव्वुफ़ के लिए आने जाने लगे थे। किन्तु गुजरात में मुसल्मानों का प्रभाव मुख्यतया अलाउद्दीन खिलजी के गुजरात को जीत लेने पर ई० सन् १३०० से प्रारंभ हुआ। इसके बाद दिल्ली के मुसल्मान अपने नाजिमों के माध्यम से गुजरात पर राज्य करते रहे। दिल्लीसे आनेवाले नाजिमों के साथ फौज, रिसाले, मुंशी, नौकर-चाकर वगैरा तो आते ही थे उनके साथ इस्लाम और तसव्वुफ़ का प्रचार करनेवाले पीर औलिये भी आते थे। इन पीर मुरशदों का सरकार पर तो प्रभाव था ही जनता में भी इनके प्रति आदर भाव था। ये घूम-घूमकर जनता को उपदेश देते थे और अपना मकसद बतलाने के लिए स्थानिक भाषा के शब्दों का भी सहारा लेते थे। इनकी भाषा हिन्दवी या दहलवी थी जिसमें गुजरात के देशज शब्द भी मिल गये थे। इस तरह की प्रादेशिक शब्दों से युक्त हिन्दवी को इन्होंने 'गूजरी' नाम दिया। सैयद पीर चिश्ती के निम्नलिखित उद्धरण से इस कथन की पुष्टि होगी

"अने गमार हैं रहते जंगल रे मांही,
वे गूजरी रे बिना और समझे रे नांही
मुझे उन वास्ते किताबां रे करनी।
तो समझन उन्हों को वैसी बोली मन धरनी।"

[सयद पीर चिश्ती, गुजरात,
१६५१ ई०]

फ़ौजों, रिसालों और सूफ़ी पीर औलियाओं के द्वारा यही गूजरी कालांतर में गुजरात से दक्षिण में संक्रमित हुई और दक्नी या दक्खनी कहलाने लगी। अकबर के गुजरात को जीतने पर (सन् १५७३-१५८३ के बाद) तो कितने ही सूफ़ी संत और साहित्यकार गुजरात से दक्षिण में बीजापुर और गोलकुंडा आदि स्थानों पर गये। वहाँ जाने पर भी इन्होंने कुछ समय तक अपनी भाषा को 'गूजरी' कहना चालू रखा। शेख बहाउद्दीन बाजनम (बीजापुर) के निम्नलिखित उद्धरण से यह स्पष्ट हो जायगा

जो होवें ज्ञान पुजारी
ना देखें भाखा गुजरी।

(हुज्जतुलबका)

यह सब गुजरी क्या जुबां
करिया आइना दरिया जुमा।

(इरशादनामा)
[शेख बहाउद्दीन आनम, ई. १५८२, बीजापुर]

गुजरात के सूफी कवि

गुजरात में गूजरी की इस सूफ़ी साहित्य साधना का प्रारंभ शेख अहमद खट्टू (१३३६—१४४६ ई) और बरहानुद्दीन कुत्बे आलम बुखारी (१३४४—१४५३ ई) से माना जा सकता है। ये उच्चकोटि के सत थे और गुजरात में रस बस गये थे तथा सामान्य जनता को गूजरी में उपदेश देते थे। इनके अतिरिक्त शाहआलम, शेख बहाउद्दीन बाजन, शाह अली गामधनी, मियां खूब मुहम्मद चिश्ती, बावाशाह हुसैनी, ईशा चिश्ती सैयद पीर मशाइख चिश्ती, शेख मुहम्मद अमीन आदि अनेक सूफ़ी सत एव कवि गुजरात में हुए हैं। इन्होंने अनेक मसनवियां, ऐतिहासिक कृतियां और स्फुट रचनाएं गूजरी में की हैं। वली के बाद गूजरी में रचना करनेवाले सूफ़ियों की परपरा प्राय समाप्त हो जाती है—और गुजरात में उर्दू काव्य परपरा का प्रवर्तन होता है।

गुजरात के उर्दू कवियों का अध्ययन और विवेचन इस निबन्ध का विषय नहीं है। यहां पर हम सक्षेप में गुजरात के उन्हीं सूफ़ी फकीरों और कवियों पर विचार करेंगे जिन्होंने गुजरात में खड़ीबोली की परपरा को जन्म दिया। साहित्यिक दृष्टि से इन कवियों की रचनाए अधिक महत्वपूर्ण न होते हुए भी खड़ीबोली के विकास के अध्ययन की दृष्टि से बड़ी उपयोगी हैं। शेख बहाउद्दीन बाजन, काजी महमूद दरियायी, शाह अलीजी गामधनी, बाबा शाह हुसैनी, हजरत मुहम्मद चिश्ती, शेख अहमद खट्टू और हसन जस आदि गुजरात के ऐसे सूफ़ी संत और कवि हैं जिन्होंने गूजरी हिन्दी में रचनाएं की हैं। इन सूफ़ी संतोंके कृतित्व का संक्षिप्त परिचय आगे दिया जा रहा है।

शेख बहाउद्दीन 'बाजन' (७९० से ९१२ हिजरी)

गुजरात के प्रसिद्ध सूफ़ी संत शेख बहाउद्दीन बाजन की गणना उर्दू के आदि कवियों में की जाती है।[1] पर इन्होंने स्वयं अपनी भाषा को 'हिन्दवी' और 'गूजरी' कहकर इस विवाद के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ा। भाषा की दृष्टि से देखने पर भी ये खड़ीबोली परंपरा के ही कवि प्रतीत होते हैं। जिस भाषा को इन्होंने 'हिन्दवी' कहा उसके कुछ नमूने देखिये :

यू बाजन बाजे रे इसरार छाजे ॥
मन्डल मन में धमके, रबाब रगमें झमके,
सूफी उन पर ठमके।
यू बाजन बाजे रे इसरार छाजे ॥[2]

(दोहरा)

भौंरा लेवे फूल रस, रसिया लेवे बास।
माली सींचे आसकर, भौंरा खड़ा उदास ॥

* * *

मेरे पंथ कोई चल न सके,
जो चले सो चल चल थके।
पढ पडत पोथी धोयां,
सब जान सुध-बुध खोया।
सब जोगी जोग बिसारे,
सब तापिश तब पुकारे।
एक दुरस्ती दरस भूले,
सिर नांगे पाव फूले।

* * *

तुझ एक रूप भात बहुत देख आशिक शैदा होवे।
'बाजन' आपको एक सरीखा नाही नाही, सब जगह जोह जोह।

* * *

---

१ उर्दू की इब्तेदाई नशवोनुमा में सूफियाये किराम का काम—डा० अब्दुल हक़, पृ० ५४।

२ वही।

न अंद आन्या न बोह आया ।
न वो माई लाल केलाया ।
बाजन सब अंद आप न पाया ।
प्रकट हुआ पर आप लगाया ।

हजरत कुतुबेआलम (७९०—८५० हिजरी)

पाटन निवासी प्रसिद्ध सूफ़ी फ़क़ीर हजरत कुतुबेआलम अहमदशाह के अहमदाबाद बसाने पर अहमदाबाद चले आए। सुलतान अहमदशाह इनकी बड़ी इज्जत करते थे। इनका जन्म, सन् १३८८ में और मृत्यु सन् १४४६ हुई। अहमदाबाद के निकटवर्ती गांव में इनका मजार है। इनकी मृत्यु के बाद इनके बड़े लड़के हजरत शाह आलम गद्दी के अधिकारी हुए। हजरत कुतुबेआलम और उनके मुरीद शाहआलम हिन्दी में उपदेश दिया करते थे। हजरत कुतुबेआलम की बानी की बानगी देखिये

काधी का राजा तुम सर कोई न बूझे।
सकी का राजा तुम सर कोई न बूझे।[१]

हजरत सैयद मुहम्मद जौनपुरी (८४७ से ९१० हिजरी)

ये घुमक्कड़ सूफ़ी संत थे, अपने जीवन का अधिकतर हिस्सा इन्होंने घूमने-फिरने में ही व्यतीत किया था, इनका जीवनकाल, सन् १४४३ से १५०४ ई० तक माना जाता है, अपनी यात्रा के दौरान में ये कुछ समय तक सरखेज अहमदाबाद में भी रहे थे, इनका स्वर्गवास ६१ वर्ष की अवस्था में बलूचिस्तान में हुआ, इन्होंने भी गूजरी हिन्दी में कुछ अल्फाज़ कहे हैं

हु बलहारी सजना हु बलहार।
हु साजन सहरा साजन मुझ गलहार।
तू रूप देख जग मोह्या, चन्द तारायन भान।
उन्हीं रूप पहन होऊ, का वही न होवे आन॥

१, उ० हि० न० सू० का०, पृ० ५४।

काजी महमूद दरियायी (हिजरी ९४१)

सूफ़ी फ़कीर काजी महमूद दरियायी बीरपुर (गुजरात) के निवासी थे, इनका देहांत सन् १५२१ में ६७ वर्ष की आयु में हुआ। इनके पिता काजी हमीद उर्फ़ शाहचलंदा भी पहुंचे हुए फ़कीर थे, दरिया के मुसाफिरों के वली होने के कारण शाहचलंदा दरियायी कहे जाते थे। आगे चलकर इनके पुत्र और मुरीद काजी महमूद भी दरियायी कहे जाने लगे। इन्होंने हिन्दी में कुछ उपदेश दिए हैं। इन्होंने खास तर्ज़ की नज़्म जिसे 'जकरी' कहा जाता है, लिखी है। यह ज़िक्र से व्युत्पन्न है। इसमें सूफ़ी मशायख संत परंपरा तथा पीरों की प्रशंसा रहती है, काज़ी साहब की रचना का यह प्रकार न केवल गुजरात में बल्कि समस्त भारत में प्रचलित हो चुका था। मौ० अब्दुल हक़ ने इस संबंध में कहा है 'इनकी जुबान हिन्दी है जिसमें कहीं-कहीं गुजराती और अरबी लफ्ज़ भी आ जाते हैं कलाम का तर्ज़ भी हिन्दी है।[४] इनकी रचना शैली के निम्नलिखित उदाहरण से भी इसकी पुष्टि होती है

> पांच वक्त नमाज गुजारू दायम पढू कुरान।
> खाबो हलाल, बोलो मुख सांचा, राखो दुरुस्त ईमान।
> छोड जंजाल झूटो सब माया जो मन होवे ज्ञान।
> कलमा शहादत मुख बसारो जिससे छूटे न ध्यान।
> दीन दुखी की नेमत पावो जो जन्नत राखो शान।
> महम्मूद मुखथीं तिल न बिसारे, अपने धनी का नाम।

शाह अली मुहम्मद जामधनी (वफ़ात ९७३ हिजरी में)

ये सैयद अहमद कबीर रिफाइकी के वंशज थे। इनकी मृत्यु १५१५ ई० में हुई। इनका मजार अहमदाबाद में रायखड़ में है। मिराते अहमदी में इनके कलाम की प्रशंसा की गई है। आपका दीवान 'जवाहिरे इसरारुल्लाह' के नाम से प्रसिद्ध है। इनकी कविताओं में सूफ़ियों के प्रेम की पीर स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। इन्होंने सदैव अपने आपको आशिक और खुदा के माशूक के रूप में देखा है, इनकी वाणी में प्रेम का रंग घुला हुआ है। मौलाना अब्दुलहक ने इनकी

---

४ उ० हि० न० सू० का० पृ० ५६।

भाषा के संबंध में कहा है 'इनका तर्ज़ कलाम हिन्दी मौरा का सा है।५ वैसे, इन्होंने अपनी भाषा को सदैव 'गूजरी' कहा है, इनकी वाणी की बानगी अवलोकनीय है।

कहीं सो मजनू हो बर लावे।
कहीं सो लैला होवे दिखावे।
कही सो खुसरो शाह कहावे।
कही सो शीरी होकर आवे।

* * *

आप खेलूं आप खिलाऊं।
आपे आपस में गुल लाऊं।

हजरत खूब मोहम्मद साहब चिश्ती (वफ़ात हि० १०२३)

अहमदाबाद निवासी सूफी कवि खूबमुहम्मद का जन्म, ई० १०३९ में और देहांत १६१४ में हुआ, इन्होंने 'खूब तरंग' नामक एक सूफियाना मसनवी (९८६ हि० में लिखी) तथा 'भावभेद' नामक रिसाला लिखा है, इस मसनवी में आपने अपनी भाषा को 'अरबी फारसी आमेज गुजराती' कहा है।

जीवन दिल अजम अरब की बात।
सुन बोले बोली गुजरात।
जोवन मेरो बोली मुंह बात।
अरब अजम एक सघात।

भाषा को देखते हुए इस मसनवी को गूजरी हिन्दी का कहना ही अधिक उचित प्रतीत होता है, कुछ उदाहरण द्रष्टव्य है

जो हर अर्ज सो जर्रा जात।
तल तल फिरे अजैसन आत।
जिसको वहम करे नही होवे।
डाबा, जमना जिसे न होवे।

* * *

---

५. ग० इ० क० सू० का० पृ० ५८।

शेखचिली के थे घर बार, चढ़े फिराने एक सवार।
ऊंचे चढ़कर लेखा कौन, गिनती छपरे हुए सौ तीन।
जिस पर बैठे आप फिराये, तिसकू गिनती मां न लियाये।
फिक्र करे नैन खोये यू, अन्दाजन घरजाये क्यों।
—हिकायते शेखचिल्ली, खूब तरग

मल्लिक अमीन कमाल (१०५० हि० से पूर्व)

इनकी लिखी किताब 'बहराम व हुस्नबानू' मसनवी प्रसिद्ध है, ये गुजरात के दरबारी शायर भी थे, कुछ लोग इन्हें दकनी भी मानते हैं, इनकी रचना शैली देखिये

अजब सीस पर उस लंबे बाल थे।
व चग शाख सदल पर रखवाल थे।
जवी देख उसको छुपे आफताब।
ले मुख पर अपस के रैन का नकाब।
नेन देख आहू परेशान हो।
चमन बीच नरगिस सो हैरान हो।
—यूसुफ जुलेखा

सैयद शाह हाशिम (हि० १०९५)

आप भी अहमदाबाद के सूफ़ी संत थे। आप की मृत्यु ई० सन १६४९ में अहमदाबाद में हुई। आपकी वाणी हिन्दी में मिलती है

ऐ दुनिया के लोग कीडे मकोडे।
घेहूं शहद पर दौड़ते घोडे।
डूबते बहुत निकलते थोडे।

शेख मोहम्मद अमीन (हि० ११०९)

इनके जीवन के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। ये औरंगजेब के अहद हि० सन् ११०९ में वर्तमान थे। आपने 'यूसुफ जुलेखा' नामक इश्किया मसनवी लिखी

है जिसमें इन्होंने अपनी भाषा को 'गूजरी' कहा है। इसके अतिरिक्त इन्होंने एक मसनवी और लिखी है जिसका नाम 'तवल्लुदनामा' है। मोहम्मद अमीन को बहुत से दक्खनी विद्वानों ने दक्खनी माना है पर प्रो० डार साहब ने इन्हें गुजराती मानते हुए कहा है "मोहम्मद अमीन अपनी जबान को साफ़ साफ़ गुजराती कहता है और बाज़ खालिस गुजराती अलफ़ाज़ मसलन 'गाम' और 'पोपट' का इस्तेमाल करता है"[६]। इस संबंध में अमीन का कथन द्रष्टव्य है :

सुनों मतलब अहे अब यू अमीं का।
लिखे गुजरी मने यूसुफ जुलेखा॥
हर एक जागे किस्सा है फारसी में।
अभी उसकू उतारे गूजरी में॥
के बूजे हर कुदाम इसको हकीकत।
बडी है गुजरी जगबीच न्यामत॥
बोतां चालिस सो पर चोदह और सौ।
हैं लिखियां गोधरे के बीच सुनल्यो॥

जसाकि हम ऊपर कह आए हैं, अपनी भाषा को गूजरी कहने का रिवाज़ तो दक्खनी शायरों में भी था। किन्तु देशज प्रयोगों को देखकर और गोधरा वतन के उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि मोहम्मद अमीन गुजरात के होंगे या काफ़ी समय तक गुजरात में रहे होंगे। इनकी भाषा शैली के कुछ और उदाहरण देखिये

गरब कोई इस जगत में कीजियेना।
गुरुरी का प्याला पीजियेना॥
गरब करतार कू पडती है मुश्किल।
गरब सो ना करे जो होवे आकिल॥

(गु० जु०)

जमाने कू तरस आता नहीं रे।
किसीका ये भला चाहता नहीं रे॥

* *

---

६ देखिये, प्राणलाल कृपाराम देसाई सम्मान अंक (गुज०) पृ० १३३।

मजाजी इश्क जो रखते हैं जगमा ।
उन्हू कू ख्वार करता है जमानां ॥
हककी इश्क जो रखते हैं दरदिल ।
नहीं पडता उन्हू कू कछी मुश्किल ॥
खुदा के इश्क भोतर वे शबोरोज ।
रहते है दिन खुशाल सू दिल अफरोज ॥
जो आशिक हुई इन्सान पर जुलेखा ।
पडी तो उस उपर विपत क्या ॥
अगर अल्लाह पर आशिक वे होती ।
उन्हें इन्सा के सोम न जोतो ॥
कछू मुश्किल न पड़ती ऊसके तईहा ।
रती हो मस्त दयम इश्क के मा ॥ (यूसुफ जुलेखा)

इन सूफी संतों के अतिरिक्त शेख अब्दुल कदूस गगूही, ग्वालियर के मुहम्मद गौस, शेख वजीहुद्दीन अहमद अल्वी आदि का भी कुछ समय तक गुजरात में रहने का उल्लेख मिलता है। इनके अतिरिक्त बाबाशाह हुसेनी, शेख अहमद खट्टू और हसन जस का नाम भी इस परंपरा के प्राचीन कवियों में लिया जाता है। इन कवियों ने गूजरी में अपने विचार व्यक्त किये हैं। इन कवियों के पश्चात् गुजरात में उर्दू शायरी के बाबा आदम वली हुए जिनके बाद गूजरी भाषा ने उर्दू की अदबी तशकील हासिल की।

मोहम्मद फताह (११०९ हि० के बाद)

गोधरा निवासी मोहम्मद फताह शायर अमीन के समकालीन थे। 'युसुफ सानी' या 'जुलेखा ए सानी' लिखी है जिसकी मूल प्रति बम्बई के प्रो० नदवी के संग्रह में सुरक्षित है। भाषा शैली का उदाहरण देखिये

अब सुनो फताह की बाता, सब ०या ।
गोधरे के शहर में केता बया ॥
बैठे थे एक दिन जुम्मामसजिद मने ।
को बडे और जगर सब छोटे नन्ने ॥
शहर सी आया था एक मुहम्मद हया ।
उन निकाला यूसुफ जुलेखा तोतिया ॥

शम्स वलीउल्लाह (१६६८ से १७४४ ई०)

उर्दू शायरी के बाबा आदम शम्स वलीउल्लाह का उर्दू ज़बान से वही सम्बन्ध है जो चासर का अंग्रेजी से। वली के वतन के संबंध में उर्दू के इतिहासकारों में काफी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें औरंगाबाद का रहनेवाला मानते हैं पर डार साहब ने इन्हें गुजराती साबित करने का प्रयत्न किया है। वे लिखते हैं

"वली ने अपनी उम्र का एक हिस्सा सैरो सियाहत में गुजारा है और इसी सैरोसियाहत के दौरान में वो बरसों औरंगाबाद भी रहे हैं। इसी बिना पर उनके मुतल्लिक झगड़ा शुरू हो गया। दकनी कहते हैं कि वली दकनी है। इसके खिलाफ गुजरातियों का दावा है के वो बहुत हद तक इसी बात में कामियाब रहे हैं के आप वली को शाह वजीहुद्दीन का एक फ़र्द साबित कर दिखाये। वली का इन्तकाल हि० ११९८ में अहमदाबाद में हुआ और इन्हीं के खानदानी कबरिस्तान में जो नीली गुम्बद के नाम से मशहूर है वे दफ़न भी किये गये।७

श्री रामनरेश त्रिपाठी ने भी वली की मृत्यु सन् १७४४ में अहमदाबाद में मानी है और लिखा है कि उन्हें गुजरात ज्यादा प्रिय था।८

वली की भाषा में गुजरातीपन की झलक देखकर भी उन्हें गुजराती मानने को जी चाहता है। उनकी कविता में भने, हता, सघात, डामा, आखा, आदि गुजराती देशज शब्द मिलते हैं, साथ ही 'मेरे' 'तेरे' के बजाय जो 'मुझ' 'तुझ' का प्रयोग मिलता है वह भी तत्कालीन गूजरी प्रयोगों के अत्यत निकट है। यहाँ हमने वली का उल्लेख इसलिये किया है कि वे उर्दू के प्रथम कवियों में से एक हैं। इनकी रचना का एक उदाहरण देखिये

"तुझ लब की सिफत लाल बदख्शां से कहूँगा।
जादू हैं तेरे नैन गजाला से कहूँगा॥
दी हक ने तुझे बादशाही हुस्न नगर को।
यह किश्वरे ईरांमें सुलेमा से कहूँगा॥
जख्मी किया है मुझे तेरी पलकों की अनोने।
यह जख्म तेरा खंजरे भाला से कहूँगा॥

७ देखिये, प्रा० कि० दे० स० अं०, पृ० १३४।

८ कविता कौमुदी भाग ४, चौथा संस्करण, पृ० १२९।

बे सब्र न हो ऐ 'वली' इस दर्द से हरगाह।
जल्दी से तेरे दर्द की दरमा से कहूँगा॥"

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि गुजरात के सूफी कवियों की कविता का साहित्यिक दृष्टि से भले अधिक मूल्य न हो किन्तु इनकी वाणी के अध्ययन से खड़ीबोली की आदि परंपरा पर प्रकाश पड़ता है। बहुत से उर्दू विद्वानों ने इन मध्यकालीन सूफी फकीरों की वाणी को उर्दू का आदि रूप माना है। किन्तु वली के पूर्ववर्ती सूफी संतों ने अपनी भाषा को 'हिन्दवी' और 'गूजरी' कहा है। वस्तुत यह खड़ी बोली का गुजराती में प्रचलित रूप था। इन सूफी फ़कीरों ने अपने उपदेशों के लिए उसी व्यापक लोकभाषा को अपनाया था जिसका प्रयोग विभिन्न प्रांतों के साधु-संत कर रहे थे। अपनी कुछ प्रांतीय विशेषताओं को लेकर यही वाणी गुजरात में 'गूजरी' और दक्षिण में 'दक्खनी' कहलाती थी।

इस अवलोकन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुजरात के सूफी शायरों ने 'हिन्दवी 'या' 'गूजरी' में महत्त्वपूर्ण रचनाएं की है। इन रचनाओं से हिन्दी तथा उर्दू के विकास को समझने में बड़ी सहायता मिलती है। ये रचनाएं उस भाषा में रची गई हैं जो हिन्दी तथा उर्दू का मूल उत्स है। 'गूजरी' दकनी से पूर्व लोकप्रियता को प्राप्त हुई थी और हिंदी परंपरा के अधिक निकट थी। फिर परिस्थितियों के कारण इसका विकास दकनी के रूप में और विलय उर्दू के रूप में हुआ। हिन्दी उर्दू का यह अंतर वली के बाद क्रमश बढ़ता गया।

हिन्दी की तरह गुजरात उर्दू शायरी का भी केन्द्र रहा है। वली के बाद सैकड़ों उर्दू शायर गुजरात में हुए हैं, बम्बई, सूरत, भरूच, बड़ौदा, अहमदाबाद और खंभात, उर्दू शायरी के बड़े केन्द्र रहे हैं। इस विषय की विशेष जानकारी के इच्छुक महानुभावों को काजी नूरुद्दीन की फारसी में लिखी पुरानी पुस्तक 'तज़करीए मखज्जनुए शोराए गुजरात' देखनी चाहिये इसकी भूमिका मिर्ज़ा ग़ालिब ने लिखी थी। इस संबंध में दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति है डा० मदनी साहब द्वारा बम्बई विश्वविद्यालय में डाक्ट्रेट की उपाधि के लिए प्रस्तुत प्रबंध 'गुजरात के उर्दू खादिम'।

इस निबंध को हमने वली के पूर्ववर्ती, गुजरात के प्राचीन सूफी कवियों के अध्ययन तक ही सीमित रखने का प्रयास किया है और यह बताने का प्रयास किया है कि इनके द्वारा प्रयुक्त हिन्दवी या गूजरी-भाषा दकनी की पूर्ववर्ती भाषा शैली है। खुसरो से लेकर वली तक की खड़ी बोली की परंपरा के विकास को समझने के लिए इन नवोपलब्ध तथ्यों की गवेषणा एवं उनका विधिवत् पुनरीक्षण आवश्यक प्रतीत होता है।

तद्विषयक संदर्भ ग्रंथ

फारसी

१ तज्करी-ए मख्जनुए वोरा-ए गुजरात : ले० काजी नूरुद्दीन

उर्दू

२ उर्दू की इब्तदाई नश्व-व नुमा में सूफियाए इकराम का काम : ले० डा० अब्दुल हक, पृ० ५४

३ गुजरात के उर्दू खादिम ले० डा० मदनी, बम्बई विश्वविद्यालय अ० प्र० शोध प्रबंध

४ लुगाते गूजरी प्रो० न० अ० नदवी

गुजराती

५ प्राणकाल किरपा राम देसाई सनमान अंक प्रो० डार० का 'गुजरात में उर्दू' संबंधी लेख। पृ० १३३

६ स्वाध्याय पृ० ३, अंक ४, डा० सी० आर० नायक का 'गूजरी भाषा' संबंधी लेख।

हिन्दी

७ दक्खिनी हिन्दी डा० बाबूराम सक्सेना।

८ गुजरात की हिन्दी सेवा डा० नागर, अ० प्र० शोध प्रबंध (राज० विश्वविद्यालय), पृ० ३४२ से ३५३।

रीति-कवि का व्यक्तित्व : एक पुनर्मूल्यांकन

पुरुषोत्तम शर्मा

हिन्दी काव्य-साहित्य की विशद् परंपरा में रीति-काव्य परंपरा का विशिष्ट महत्व है। विषय की व्यापकता की दृष्टि से यहाँ 'रीति काव्य' का प्रयोग केवल रीतिबद्ध कवियों एवं रचनाओं के संदर्भ में ही नहीं किया जा रहा है, बल्कि इसे उस समग्र साहित्य की परिचायक आख्या के रूप में स्वीकारने का प्रयत्न किया गया है—जो कि, किसी भी रूप में किसी काव्य-धारा के अन्तर्वर्ती मूल्यगत द्वन्द्वबोध को समझने एवं स्पष्ट करने में सहायक होती है। रीति काव्य, हिन्दी के काव्य-साहित्य में एक मौलिक एवं पूर्णत नवीन कोटि का साहित्य है। इस परंपरा के काव्य साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता इसकी विषय एवं विधानगत मौलिकता है। कहा जा सकता है कि इसमें वह सब कुछ नहीं है जो कि इसकी पूर्ववर्ती काव्य परंपराओं में उपलब्ध है। संभवत रीति काव्य ही हिन्दी कविता की एक मात्र ऐसी प्रवृत्ति है जिसके अन्तर्गत रचित साहित्य वास्तव में ही 'काव्य' की मर्यादा का अधिकारी है तथा सहज सौन्दर्य का प्रतिपादक भी। इसका महत्व इस बात में भी है कि इसका संपूर्ण रचना विधान (पूर्ववर्ती परंपराओं की तुलना में) अतिमानवीय एवं परामौतिक परिकल्पनाओं से पूर्णत असम्पृक्त है तथा विशुद्ध स्थूल धरातल पर, भौतिक दृष्टिकोण के माध्यम से, जन-रंजन के महत् उद्देश्य को समर्पित है। कम से कम ऐसा समझा तो जाता ही है। रीति काव्य निस्संदेह भौतिकतावादी दृष्टिकोण से युक्त है। किन्तु इसका यह रूप साधारणीकृत न होकर विशेषीकृत है। कुल मिलाकर इसे '*अभिजात साहित्य*' की संज्ञा दी जा सकती है। रीति-कविता की कतिपय निजी विशेषताएँ हैं जो उसे *अन्य सभी काव्य-परंपराओं से अलगाकर* एक *अतिरिक्त गरिमा* एवं सार्थकता प्रदान करती है। हिन्दी कविता में शायद यही एकमात्र ऐसी धारा है जिसमें कला के साथ ही सहज मानवीय भावुकता का समन्वय हुआ है और परिणामत: एक ऐसी काव्य-विधा का विधान हुआ है जिसे निस्संकोच 'शुद्ध कविता' कहा जा सकता है। इसी प्रकार की कविता के माध्यम से रीति कवि के व्यक्तित्व संबंधी विचार अपेक्षित है।

जहाँ तक इस विशिष्ट संदर्भ में रीति-कवि के व्यक्तित्व पर विचार करने का प्रश्न है, उसे उठाने से पूर्व कतिपय बातों का स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। व्यक्तित्व के सैद्धांतिक पक्ष पर विचार करते समय[1] *यह बात स्पष्ट की जा चुकी है कि व्यक्तित्व वस्तुत:* विभिन्न

---

[1] द्रष्टव्य—'परिशोध (१०)', चण्डीगढ़, में प्रकाश्य मेरा लेख—'व्यक्तित्व की रूपरेखा'।

मानवीय विकल्पों की समायोजित व्याख्या है। इसी आधार पर रीति-कवियों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व 'असंख्य विरोधाभासों का अविच्छिन्न समन्वय' है। इस कथन के औचित्य को समझने के लिये उनके व्यक्तित्व की रचना प्रक्रिया को पूर्णतः समझ लेना आवश्यक है। व्यक्तित्व के विकास का मूल आधार यदि मनुष्य की (व्यक्तिगत) मानसिक वृत्तियों और युग चेतना को मान लिया जाय तो रीति कवियों के व्यक्तित्व को भलीभाँति समझा जा सकता है। निजी मनोवृत्तियों के रूप में रीति कवियों के पास जो कुछ भी था, वह सब उनका अपना होकर भी किसी सीमा तक पराया था। इसका कारण उनकी संस्कारापेक्षिता की मनोवृत्ति थी। जीवन के प्रत्येक पक्ष, यहां तक कि जीव एवं ईश्वर प्रभृति परिकल्पनाओं के सम्बन्ध में भी उनके विचार पारंपरिक थे। प्रत्येक वैयक्तिक धारणा को उन्होंने परंपरा से प्राप्त किया था। यदि उनकी चेतना पर लगे हुए परंपरानुमोदन संबंधी प्रश्नचिह्न को हटाकर उनकी तद्विषयक मौलिकता को भी स्वीकार कर लिया जाय, तो भी संशय की स्थिति का पूर्णतः निवारण नहीं होता है। क्योंकि उस अवस्था में भी यह स्वीकारना ही पड़ता है कि उनकी विचार-चेतना परंपरा से प्रभावित अवश्य हुई थी। 'रीतिकाल के कवि वे व्यक्ति थे, जिनको प्रायः साहित्यिक अभिरुचि पैतृक परंपरा के रूप में प्राप्त थी काव्य का परिशीलन और सृजन इनका शगल नहीं था, स्थायी कर्त्तव्य कर्म था।'२ इसके विपरीत व्यक्तित्व का निर्धारक दूसरा तत्व—युगबोध, इस प्रकार की संस्कारापेक्षिता के अनुकूल नहीं पड़ता था। क्योंकि 'संस्कार' की गति और स्वभाव लगभग अपरिवर्तनशील होते हैं। न तो उनका स्वरूप बदलता है और न ही स्वर। यदि परिवर्तन होता भी है, तो मात्र व्यावहारिक दिशा में। संस्कार से ठीक विपरीत अवस्था युगबोध की होती है। चिन्तन के क्षेत्र में शायद युगबोध सर्वाधिक गतिशील तत्त्व है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि एक ही युग में अनेक बोधपरक संचेतनाओं का विकास एवं विस्तार होता है। परंपरा अथवा संस्कारवादी दृष्टिकोण के आधार पर कलाकार निश्चित मान्यताओं से प्रतिबद्ध हो सकता है, परन्तु युगबोध के परिप्रेक्ष्य में इस प्रकार की प्रतिबद्धता की संभावनाएं लगभग शून्य हैं। युगबोध की एक अन्य विशेषता यह भी है कि इसमें आया आकस्मिक परिवर्तन उसी आकस्मिकता के साथ मानवीय मान मूल्यों को भी परिवर्तित कर देता है। परिवर्तन की यह प्रक्रिया कुछ इस प्रकार का प्रभाव उत्पन्न करती है कि काल की अत्यंत सीमित परिधि में ही पूर्ववर्ती विविध मूल्य एकदम मूल्यहीनता के बोध से युक्त हो

२ रीतिकाव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० १३२।

जाते हैं, या फिर व्यर्थ (मूल्यहीन) कही या समझी जाने वाली धारणाएं अत्यंत महनीय मान-मूल्यों में परिवर्तित हो जाती हैं। रीति-कवियों के व्यक्तित्व के जिस रूप को उनकी कृतियों की राह से गुज़र कर ढूंढने अथवा निर्धारित करने का प्रयास आज किया जाता है, उसका निर्माण भी निश्चित रूप से परंपरा (अथवा संस्कार) और युगगत धारणाओं में निहित विरोधाभास के आधार पर ही हुआ है। संभवतः उनके व्यक्तित्व एवं जीवन दर्शन के विभिन्न पक्षों में दिखाई देनेवाले मूल्यात्मक द्वन्द्व के मूल में यही विरोधाभास परक वृत्ति रही हो।

यह तथ्य सर्वमान्य है कि रीति-कवियों के व्यक्तित्व के निर्माण के मूल में परम्परा का प्रबल योगदान रहा है। किन्तु इसके साथ ही युगबोध का महत्व भी इससे कुछ कम नहीं है। 'रीति कवि यद्यपि निम्न (मध्य) वर्ग के ही सामाजिक होते थे परन्तु अपनी काव्यकला के बल पर ऐसे राजाओं अथवा रईसों का आश्रय खोज लेते थे, जिनकी सहायता से इनकी काव्य साधना निर्विघ्न चलती रहे। अतएव इनका संपूर्ण गौरव इनकी काव्यकला पर ही निर्भर करता था।[३] अपने इस गौरव को चिरस्थायी बनाने के लिये उन्हें आश्रयदाता की प्रशंसा *में भी कविता लिखनी पड़ती थी। रीति कवि का जो रूप 'वैतनिक चारण'* का है, वह निश्चित रूप से युगबोध की देन है। जिस काल में रीतिकाव्य की रचना हुई, उस समय इस प्रकार की मनोवृत्ति कविवर्ग के लिये जैविक-अनिवार्यता थी। इसीलिए इस प्रकार की चारण-परंपरा का प्रचलन रीतिकाल के आरम्भ से लेकर उस समय तक रहा जब तब कि इस धारा की अन्तश्चेतना युगबोध में आये परिवर्तन के साथ बदल नहीं गई —

प्रबल प्रताप कुलदीपक छता के पुन्य
बालक पिता के रामराजा ज्यों भगतराज।
कान्ह अवतार बैरी बारिध-मथन काज
सील के जहाज बली बिक्रम तखतराज।
म्लेच्छ अंधकार मेटिबे को मारतंड दिन
दूलह दुनी के हिन्दूजन के नखतराज।
भारथ से पृथु से परिच्छित पुरंदर से
जादो से जजाति से जनक से जगतराज॥[४]

---

३ वही, पृष्ठ वही।

४ पद्माकर ग्रंथावली (प्रकीर्णक, प्रशस्तिखण्ड), सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, छं० १९।

जिस कवि ने अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में इस प्रकार का अतिशयोक्तिपूर्ण छन्द, वास्तविकता की पूर्ण उपेक्षा करके, रचा होगा उसकी केवल दो ही बातों—युगबोध और स्वार्थप्रियता से प्रभावित होने की संभावनाए ही अधिक हैं। यद्यपि बुद्धिवादी धरातलों पर इसका श्रेय युगबोध को ही मिलना चाहिए परन्तु इसके साथ ही स्वार्थप्रियता के महत्व को भी झुठलाया नहीं जा सकता। क्योंकि स्वार्थान्ध व्यक्ति प्राय: वास्तविकताओं की उपेक्षा करके मात्र स्वार्थसिद्धि के लिये इस प्रकार की बाते किया करते हैं।

व्यक्तित्व के निर्माण में युगबोध का महत्व इसलिए भी है कि इसके द्वारा ऐसी परिस्थितियों की उद्भावना भी की जा सकती है, जो कि कलाकार के व्यक्तित्व को (यदि आवश्यक हो) बलात् भी अपने अनुरूप बना सके। रीति कवियों की आश्रयवृत्ति भी इसी प्रकार की युगीन परिस्थितियों की देन हैं, जिनके अन्तर्गत इन कवियों के लिये स्वछन्द एव अनासक्त चिन्तन तथा काव्य-प्रणयन के लिये कोई स्थान नहीं रह गया था। आश्रयदाता द्वारा प्रदत्त आश्रय का महत्व इन कवियों के लिये बौद्धिक के साथ ही जैविक भी था। क्योंकि आश्रय का दूसरा पर्याय (रीति कवियों की भाषा में) जीविका है। जीवन के मूलाधार 'जीविका' की रक्षा करने के लिये यदि उन्होंने—'लाखन स्वरचि रचि आखर खरीदे हैं',५ कहकर किसी आश्रयदाता की प्रशंसा की है तो इसे युगबोध तथा युगप्रभावी मनोवृत्ति का ही परिणाम कहा जा सकता है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि रीति कवियों के व्यक्तित्व के निर्माण में युगबोध का अत्यधिक योगदान रहा है। इसे उनके व्यक्तित्व की रचना-प्रक्रिया में सहायक तत्वों में प्रथम स्थान दिया जा सकता है।

दूसरा महत्वपूर्ण तत्व उनकी वैयक्तिक चेतना है। इसका स्वरूप उनके व्यक्तित्व की सीमाओं में आबद्ध होकर भी पूर्णत युग निरपेक्ष एव परंपरा सापेक्ष रहा है। इसके आधार पर रीति कवि के व्यक्तित्व के उस पहलू का विधान हुआ है जिसे 'नितान्त निजी' कहा जा सकता है। रीति कवि के व्यक्तित्व का यह पक्ष उनके युगीन-व्यक्तित्व से असम्पृक्ति की सीमा तक भिन्न है। इसकी निजी मान्यताएँ हैं सीमाएँ हैं और संभावनाएँ भी। दास्य-मनोवृत्ति एव चाटुकारिता के उस युग में भी अपने व्यक्तित्व में इस प्रकार के तत्वों का समावेश किये रहना रीति-कवि की निजी विशेषता है। इस विशेषता के स्थायित्व का कारण किसी सीमा तक युगबोध में हुआ परिवर्तन भी है। किन्तु इस परिवर्तन की अपेक्षा अधिक महत्व उस प्रज्ञा एवं विचार-चेतना का है जिसे रीति कवि ने वैयक्तिक धरातलों पर अर्जित किया था।

---

५ रसविलास, देव, १—३।

यद्यपि रीतिकालीन (रीतिबद्ध) कवि प्रायः राजाश्रित थे, राजाओं से दान रूप में प्राप्य द्रव्य ही उनका जीविका थी। आश्रयदाताओं से मिलने वाला शाब्दिक प्रोत्साहन उनके 'कवि' को जीवित रखता था। किन्तु (वैयक्तिक स्तर पर) वास्तविक स्थिति इससे पूर्णतः भिन्न थी। लगता है, जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये इस युग के कवियों ने चाटुकारिता युक्त स्वामी भक्ति का मुखौटा ओढ़ रखा था। यदि ऐसा न होता तो उनके 'वास्तविक व्यक्ति' का आक्रोश अपने आश्रयदाताओं के प्रति इस प्रकार न फूट पड़ता—

मीरजादे पीरजादे असल अमीरजादे साहिब फकीरजादे जादे आप खो रहे।
रावजादे रायजादे साहजादे शाहजादे कुल के असीलजादे नींद ही में सो रहे।
ठाकुर कहत कलिकाल की कहर मांझ पहर पहर पर भारी भय भो रहे।
दान किरवान समैं ग्यान गुन स्यान समैं सब जादे मिटिके हरामजादे हो रहे॥[६]

यदि इस कथन की रचना प्रक्रिया का अध्ययन करते समय इसका मूल कारण युग-प्रवाह से ऊपर उठने की प्रवृत्ति को भी मान लिया जाय, तो भी यह मानना पड़ेगा कि यह किसी कलाकार की परपराओं एव सस्कारों द्वारा अर्जित आत्मसम्मान की पुकार है।

यद्यपि रीति कवि के व्यक्तित्व के निर्माण को उसकी परोपजीवी मनोवृत्ति ने पर्याप्त मात्रा में प्रभावित किया है, परन्तु फिर भी उसके निजी व्यक्तित्व में आत्माभिमान का अभाव नहीं है। कभी कभी तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि दरबारी विनय और चाटुकारिता के उस युग में भी किसी कवि ने इस प्रकार की खरी बातें कहीं भी तो कैसे? इसे निश्चित रूप से उसके व्यक्तित्व की निजी विशेषता ही कहना होगा। जन्मना विनीत, कर्मणा चाटुकार रीतिकालीन कविवृन्द की लेखनी से हुई इस प्रकार की अभिव्यक्ति को देखकर आश्चर्य होता है

हिलमिल जानै तासों हिलमिल लीजै
आप हिलिमिलि जानै ऐसो हितू ना बिसाहिये।
होय मगरूर तासों दूनी मगरूरी कीजै
लघुता ह्वै चलै तासों लघता निबाहियै।
बोधा कवि नीति को निबेरो एहि भांति—
करो आपको सराहै ताको आपहू सराहिये।

६, ठाकुरशतक, स० लाला भगवानदीन, छं० ७५।

बाला कहा बूढ़ कहा सुंदर प्रवीन कहा
आपको न चाहै ताहि आपहू न चाहिये ॥७

इस प्रकार के कथन निश्चित रूप से संस्कारवती विचार धारा की देन हैं।

अपने संग्रह में डा० जगदीश गुप्त ने रीति-कवि के व्यक्तित्व को एक जाति अथवा 'टाइप' का प्रतीक मानते हुए उसके व्यक्तित्व को व्यक्तिगत विशेषताओं की समष्टि का बोधक माना है। इसके साथ ही उनकी दूसरी मान्यता यह है कि रीति कवि के व्यक्तित्व की विशेषताएँ व्यक्ति के रूप में उतनी स्पष्ट नहीं हो पाईं जितनी कि एक विशिष्ट जाति अथवा परंपरा या फिर 'टाइप' के प्रतिनिधि के रूप में।८ रीति-कवियों के व्यक्तित्व के स्वरूप-निर्धारण संबंधी अन्तिम निर्णय करने के लिये ये दोनों ही स्थापनाएँ विचारणीय हैं। यदि तत्कालीन परंपरा के संदर्भ में विचारा जाय तो यह स्वत ही स्पष्ट हो जाता है कि रीति-कवि का व्यक्तित्व एक विशेष परंपरा अथवा वर्ग की प्रवृत्तियों का सारभूत सग्रह है। सैद्धांतिक दृष्टि से व्यक्तित्व की परिकल्पना पर विचार करते समय प्राय यह कहा जाता है कि व्यक्तित्व वस्तुत किसी व्यक्ति के प्रवृत्यात्मक जगत के सारभूत तत्वों के आधार पर निर्मित आख्या होती है और इसीलिए प्रत्येक व्यक्तित्व एक विशिष्टता से युक्त होता है। इस विशिष्टता का स्वरूप नितान्त निजी होता है और इतर व्यक्तित्वों में इसकी उपलब्धि की संभावनाएँ लगभग नहीं होती हैं। किन्तु यदि रीतिकवियों की वैयक्तिक चेतना एव तत्कालीन विभिन्न बोधों के सदर्भ में विचार किया जाय, तो उपर्युक्त सैद्धान्तिक धारणा पूर्णत खण्डित हो जाती है। इस धारणा से इस प्रकार के अलगाव का मूल कारण रीति-कवियों की प्रतिबद्ध जीवन-दृष्टि है। इस दृष्टि का विकास रीतिकाल के आरम्भ से बहुत पहले ही होने लगा था। रीतिकाल में आकर प्रत्येक कवि का जीवन-दर्शन इसी के द्वारा अनुप्राणित हुआ। यह जीवन दृष्टि कतिपय ऐसे विशिष्ट तत्वों का सग्रह है जिनका समावेश प्रत्येक रीति-कवि के व्यक्तित्व में प्रभूत मात्रा में हुआ है। इसलिए यह तय है कि रीति-कवि के व्यक्तित्व सबधो कोई भी ऐसी परिकल्पना नहीं की जा सकती जो कि व्यक्तित्व के वास्तविक तत्वों तथा उसकी सीमाओं एव संभावनाओं का निदर्शन एक विशिष्ट बोधगम्य धारणा के आधार पर करवाती हो।

व्यक्तित्व, मानवीय जीवन का एक नितान्त निजी पक्ष है। परन्तु यदि रीति-कवियों के सदर्भ में इस बात को विचारा जाय तो इसके 'निजत्व' का वैशिष्ट्य' साधारणीकृत परिकल्पना' में परिवर्तित हो जाता है। देव और मतिराम अथवा भिखारीदास और सोमनाथ के

---

७ इश्कनामा, बोधा, १—२५।

८, रीतिकाव्य-संग्रह (भूमिका), डा० जगदीश गुप्त, पृ० ३३।

'कवि व्यक्तित्व' का विश्लेषण करने के लिये पृथक् पृथक् मानदण्डों की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि एक ही प्रकार की मनोवृत्तियों एव विचार-चेतनाओं के आधार पर इन सबके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ है। केवल यही कवि नहीं रीतिकाल के अन्य किसी भी कवि के व्यक्तित्व का विश्लेषण एक ही प्रकार के मानदण्डों के आधार पर किया जा सकता है। मानदण्डों के प्रति इस सार्वभौमिक दृष्टिकोण से केवल एक ही बात परिलक्षित होती है, कि इन कवियों के व्यक्तित्व में निजी विशिष्टताओं का पूर्ण अभाव था। ऐसी अवस्था में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि निजत्व एव वैशिष्ट्य से रहित व्यक्तित्व किसी व्यक्ति का नहीं बल्कि जाति का होता है। अत रीति कवि के विश्लेषण से भी उस सपूर्ण जाति अथवा परपरा का व्यक्तित्व मुखरित हो उठता है जिसका कि वह (कवि) एक साधारण अथवा प्रबुद्ध प्रतिनिधि है।

व्यक्तित्व सबंधी सामान्यीकरण की वृत्ति के मूल में सृजन प्रक्रिया के वे प्रभाव हैं जिनका समाहार रीति कवियों के व्यक्तित्व में अनायास ही हो गया है। क्योंकि उनके व्यक्तित्व की रचना-प्रक्रिया को ऐतिहासिक परम्परा (के बोध) ने सर्वाधिक प्रभावित किया है। इतिहास वह विधा है जो कि व्यक्ति के माध्यम से जाति के उत्थान-पतन का विवरण प्रस्तुत करती है। इतिहास की इस प्रवृत्ति ने रीति-कवियों के व्यक्तित्व की सरचना को भी प्रभावित किया है। इस प्रभाव को इस रूप में देखा जा सकता है कि, रीति कवि का व्यक्तित्व भी, व्यक्ति के माध्यम से, उसकी जाति अथवा वर्ग की मनोवृत्तियों को उद्घाटित करने का (परोक्ष) प्रयास है। इसका कारण यह है कि रचना प्रक्रिया के दौरान उसकी सरचना किसी एक (विशेष) तत्त्व के आधार पर न होकर अनेकानेक तत्वों के सामंजस्य से हुई है। इन तत्वों में पारस्परिक समरसता रही हो, ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। बल्कि वहां प्राय अन्तर्विरोधी तत्वों का ही सामजस्य हुआ है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन कवियों के व्यक्तित्व की सरचना के मूल में अन्तर्विरोधी तत्वचिन्तन रहा है न कि समन्वयवादी विचार चेतना। परन्तु इस प्रकार के वैचारिक अन्तर्विरोध का कारण क्या था? सक्षेप में इसका कारण उन कवियों की इच्छा और क्रिया का मध्यवर्ती विरोध माना जा सकता है। रीति-काव्य का अध्ययन करने पर यह प्रतीत होता है कि इसके अन्तर्वर्ती कतिपय स्थलों का प्रणयन मानो अनिच्छापूर्वक किया गया हो। अनिच्छा की भावना के पीछे कवियों की विवशता की मनोवृत्ति थी, जिसे उन्हें जीवन की कटु वास्तविकताओं एव अनुपेक्षणीय आवश्यकताओं (विशेषत आर्थिक) से सुरक्षित रहने के लिये झेलना पड़ता था। जीवन को सुचारु रूप से यापित करने के लिये उन्हें वह सभी कुछ करना पड़ता था जिसे कवि-कर्म के ज्ञाता, संस्कृत कवियों ने—

न नटा न विटा न गायका न च परद्रोह निबद्ध बुद्धय ।
नृपसद्मनि नाम के वयं कुच भारानमिता न योषित ॥९

जैसी उक्ति का विधान करके निन्दनीय माना है। जीवन की वास्तविकताओं से संत्रस्त रीति-कवि को यह सब करना पड़ता था जिसका कि कवि-कर्म से रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। उसके इस प्रकार के अपकर्षक (अवांछित कैसे कहा जाय ?) कृत्यों का उल्लेख रीति साहित्य में एक स्थान पर इस प्रकार मिलता है —

जानत हौं ज्योतिष पुराण और वैद्यक को,
जोरि जोरि आखर कवित्तन को उच्चरौं।
बैठि जानौं सभा मांझ राजा को रिझाय जानौं,
अस्त्र बाँधि खेत मांझ सत्रुन सों हौं लरौं।
रागधरि गाँऊ और कुदाऊँ घोड़े बाग धरि,
कूप ताल बावरीन नारन मैं हौं तरौं।
दीनबन्धु दीनानाथ ये ते गुन लिये फिरौं,
करम न यारी देत ताको मैं कहा करौं ॥१०

यह निश्चित है कि सात्विक वृत्ति एव कलाकारोचित तीक्ष्ण-मेधाशाली रीति-कवि को किसी भी अवस्था में स्वेच्छा से यह सब करना स्वीकार्य नहीं रहा होगा। किन्तु जैविक आवश्यकताओं ने उसे यह सब करने के लिये विवश कर दिया था। वस्तुत यही स्थिति इच्छा और क्रिया में निहित मूलभूत अन्तर की स्थिति है और इसके ही प्रभाववश रीति कवि के व्यक्तित्व में विभिन्न विरोधाभासों एव द्वन्द्वों का सामंजस्य हुआ है।

किन्तु उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष किसी भी अवस्था में नहीं निकाला जा सकता कि इस प्रकार के सभी तत्व अथवा ऐसे ही अन्तर्विरोध प्रत्येक रीति-कवि के व्यक्तित्व में विद्यमान हैं। परन्तु, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, किसी भी रीति कवि का व्यक्तित्व उसकी संपूर्ण जाति के व्यक्तित्व का द्योतक है। अत किसी न किसी रूप में प्रत्येक कवि के व्यक्तित्व में उन प्रवृत्तियों का समावेश अवश्य मिलता है जिनका प्रचलन तत्युगीन कवियों के व्यक्तित्व के विधायक मूल्यों के रूप में रहा होगा। 'सामान्य रूप से रीति-कवि का व्यक्तित्व चारण,

---

९ वैराग्यशतकम्, भर्तृहरि, श्लोक २६।

१०, रीतिकाव्य-संग्रह (भूमिका), डा० जगदीश गुप्त, पृ० ३५ से उद्धृत।

सभाकवि, राजगुरु, आचार्य और भक्त का न्यूनाधिक समन्वय है।'११ किन्तु इसके साथ ही यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि यह स्थापना एक सामान्य धारणा के आधार पर की गई है। एक ही कवि में इन सब विशेषताओं का एक ही समय पर मिल जाना यद्यपि असंभव नहीं, फिर भी कठिन अवश्य है। परन्तु इस तथ्य को किसी प्रकार भी अस्वीकारा नहीं जा सकता कि कुल मिलाकर रीति कवि का व्यक्तित्व उसके इन्हीं बहुविध रूपों का समन्वय रहा होगा।

यदि कतिपय कवियों के विशिष्ट संदर्भ में उनके व्यक्तित्व के विधायक इस कथन पर विचार किया जाय, तो पता चलता है कि प्रत्यक्षत उनके व्यक्तित्व में एक दो या कहीं-कहीं तीन तत्वों का समन्वय अवश्य था। शेष तत्वों को परोक्ष प्रभावी कहा जा सकता है। हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध कवि गंग और नरहरि बंदीजन कवित्व की दृष्टि से 'चारण' की मर्यादा के अधिकारी हैं। किन्तु उन्हें अपने आश्रयदाता के सभाकवि तथा सभारत्न होने का गौरव भी प्राप्त था। केशवदास को हिन्दी रीति परंपरा का प्रवर्तक माना जाता है। वे कवि से अधिक राजगुरु, कविशिक्षक तथा काव्यशास्त्र के निष्णात आचार्य थे। अनुश्रुतियों के आधार पर राजगुरु, राजसखा तथा कवि शिक्षक होने का श्रेय बिहारी को भी दिया जा सकता है। रीतिकाल में वीरकाव्य की परंपरा के प्रमुख सूत्रधार भूषण के व्यक्तित्व में चारण, सभाकवि और आचार्य की गुणत्रयी की झलक मिलती है। इसके अतिरिक्त कुछ कवि ऐसे भी हैं जिनके व्यक्तित्व में इन सभी विशेषताओं के अतिरिक्त 'भक्त' रूप का भी समावेश है। ऐसे कवियों में देव, मतिराम, बिहारी और पद्माकर आदि प्रमुख हैं तथा किसी सीमा तक सेनापति को भी इस परंपरा में परिगणित किया जा सकता है।

रीतिमुक्त (स्वच्छंद) कवियों के व्यक्तित्व की रचना प्रक्रिया तनिक भिन्न है। उनके व्यक्तित्व का निर्माण जागतिक अनुबंधों की अपेक्षा स्वच्छंद प्रेम, वियोग तथा भक्ति प्रभृति भावावेशमयी अवस्थाओं के आधार पर हुआ है। इन सभी अवस्थाओं के मूल में अनुरागजन्य स्वच्छंदता के स्वर हैं जो कि संदर्भ विशेष में वियोग के स्वरों में परिवर्तित हो जाते हैं। कालान्तर में एक विशेष प्रतिक्रिया द्वारा इस वियोग का स्वरूप भक्त्यात्मक हो जाता है। अत रीति-मुक्त कवि के व्यक्तित्व में रीति (बद्ध) कवियों से पूर्णत भिन्न, वियोगी, भक्त और सबसे बढ़कर 'सहज मानव' का न्यूनाधिक समन्वय है। घनानन्द, बोधा, आलम और ठाकुर ऐसे ही कवि हैं।

११, वही, पृ० ३२।

अबतक के विवेचन से यह बात पूर्णत स्पष्ट हो गई है कि रीति कवि का व्यक्तित्व किसी विशिष्ट कवि व्यक्ति की विशेषताओं एव मान्यताओं का परिचायक न होकर, तत्कालीन काव्य परम्परा के अन्तर्वर्ती संपूर्ण कवि समुदाय की वैयक्तिक विशेषताओं का परिचायक है। किसी सीमा तक इसे 'सामूहिक व्यक्तित्व का व्यष्टिनिष्ठ प्रतिबिम्ब' की सज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। किन्तु इसके साथ ही दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि तत्कालीन (संपूर्ण) कवि-वर्ग में पाई जाने वाली सभी प्रवृत्तियों का प्रतिफलन व्यक्तिवादी धरातल पर संभव नहीं हो सकता। इसके संबध में यह कहा जा सकता है कि कोई एक (विशिष्ट) कवि अपनी समसामयिक (संपूर्ण) काव्य परपरा का प्रतिनिधि होता है। ऐसी अवस्था में (प्रत्यक्षत' अथवा परोक्षत') उसी कवि के व्यक्तित्व में तद्युगीन सभी प्रवृत्तियों के सामंजस्य को स्वीकारना होता है। रीति कवियों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है।

जैसा कि पहले दिखाया गया है, रीति कवि के व्यक्तित्व में अनेक परस्पर विरोधी तत्वों का समावेश है। जहाँ एक ओर वह अपने को कवि की क्रान्तिदर्शिता का अधिकारी सिद्ध करता है वहीं दूसरी ओर वह चाटुकार, चारण या भाट भी है। कोई भी भाट-कवि स्वाभिमान अथवा आत्मगौरव से रहित चाटुकार तो हो सकता है परन्तु क्रान्तिद्रष्टा कवि कदापि नहीं हो सकता। कवि होने के साथ कवि शिक्षक एव आचार्य कहलाने की बात तो समझ में आती है परन्तु चाटुकारिता के साथ भक्ति का कोई मेल बैठता प्रतीत नहीं होता। इसी आधार पर यह कहा गया है कि रीति-कवियों का व्यक्तित्व पारस्परिक अन्तर्विरोधों का समन्वय है। रीतिमुक्त कवियों के व्यक्तित्व में इस प्रकार के अन्तर्विरोध की सभावनाएँ बहुत कम हैं और शायद इसीलिए वह एकदम उभरकर अपने वास्तविक रूप में अध्येता के सामने आता है।

रीति कवियों के व्यक्तित्व में निहित अन्तर्विरोधों के आविर्भाव का मूल कारण उनका परंपरा से अलगाव है। उसके व्यक्तित्व में उन सब तत्वों का समाहार ढूढने पर भी नहीं मिलता जो कि परपरा पोषित होने के कारण कवियों के व्यक्तित्व का अटूट अग बन गये थे। यदि कहीं कहीं इस प्रकार के तत्वों की झलक मिलती भी है तो वह बहुत धूमिल होती है। इसके अतिरिक्त रीति कवियों के व्यक्तित्व में कितने ही ऐसे नवीन तत्वों का समावेश हुआ है जिन्हें पूर्ववर्ती परपराओं में 'कवि-गुण के रूप में स्वीकारा ही नहीं गया है। आचार्यत्व, चारणवृत्ति तथा चाटुकारिता आदि ऐसे ही गुणरूप तत्व हैं। किन्तु कुल मिलाकर इनके व्यक्तित्व में जिन विभिन्न (पर परागत और नवीन) तत्वों का समन्वय हुआ है, उसे केवल वैचारिक धरातल पर अनुभव ही किया जा सकता है, अपनाया नहीं जा सकता। परन्तु

फिर भी 'इतना तो निश्चित है कि चारण कवि की तुलना में रीति कवि ने अपनी सामान्य स्थिति आचार्यत्व आदि के संयोग से कुछ श्रेष्ठतर बना ली थी।'१२

रीति-कवियों के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हुए डा० नगेन्द्र ने इनकी स्थिति उपभोक्ताओं और उत्पादक वर्ग के मध्यवर्ती कलाकार वर्ग में बताई है।१३ यद्यपि इस धारणा का स्वरूप विशुद्धत समाजशास्त्रीय है, परन्तु फिर भी (इस विशिष्ट संदर्भ में) इसका महत्व है। क्योंकि व्यक्तित्व के निर्माण में समाज का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इस विचार दृष्टि के महत्व को 'जन्म' और 'कर्म' के अन्तर द्वारा भलीभाँति समझा जा सकता है। रीति कवियों के उपलब्ध जीवन वृत्तों से इस बात की पुष्टि होती है कि सामाजिक स्तर भेद की दृष्टि से, इसमें से कोई भी बहुत उच्चवर्ग का नहीं था। ये कवि जन्मना तत्कालीन समाज के निम्न मध्यवर्ग से संबधित थे। परन्तु उनकी संपूर्ण काव्य रचना उस 'उच्चवर्ग' के संस्कारों और उसी की आकांक्षाओं के अभिव्यजन को समर्पित है, जिसने इन्हें आश्रय प्रदान करके आर्थिक सम्पन्नता एव सामाजिक-सुरक्षा प्रदान की थी। कहा जा सकता है कि रीति कवियों के व्यक्तित्व की संपूर्ण-चेतना अपने आश्रयदाता की महती कृपा के प्रति आभार प्रदर्शन करने पर अभिकेन्द्रित हुई प्रतीत होती है। आश्रयदाता का यश-वर्णन करते समय उनकी वाणी में निरीहता की जो सतत् घिघियाहट मिलती है, उसके मूल में अत्यधिक आभारी अनुभव करने की मनोवृत्ति है।

रीति कवियों की एक अन्य (अद्भुत) विशेषता है उनके व्यक्तित्व का दुविधा युक्त होना। दुविधा की यह स्थिति इस सीमा तक उनके व्यक्तित्व में परिव्याप्त हो गई प्रतीत होती है कि, साधारण रूप से दुविधा की स्थिति में उत्पन्न होने वाली एक विशेष प्रकार के 'खिचाव' (टेन्सन) की स्थिति से भी वे बहुत ऊपर उठ गये हैं। खिंचाव से बच जाने की स्थिति का कारण 'वैकल्पिक प्राचुर्य' को माना जा सकता है। क्योंकि मानसिक खिंचाव की उद्भावना सदैव विकल्पहीनता की अवस्था में होती है। जब कलाकार के सम्मुख अभिव्यक्ति का अन्य कोई भी मार्ग नहीं रह जाता तो उसका मानसिक विक्षोभ एक विशेष प्रकार के मानसिक खिंचाव में परिवर्तित हो जाता है। परन्तु रीति कवि इस प्रकार की स्थिति के भोक्ता नहीं बने।

जैसा कि अभी बताया गया है, उनके सम्मुख विकल्पों का अभाव नहीं था। ऐसी स्थिति में मानसिक विक्षोभ को शान्त करने के अनेकानेक साधन हो सकते थे। निम्न मध्यवर्ग

---

१२ वही, पृ० ३४।

१३, रीतिकाव्य की भूमिका, डा० नगेन्द्र, पृ० ९।

में पालित-पोषित होने के कारण, उस जीवन की वास्तविकताओं के भोक्ता वे स्वय थे। राजाओं के आश्रित होने के कारण, राजदरबारों की विलास-लीलाओं का भी उन्हें पूरा अनुभव था। निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की कटुताओं से सन्त्रस्त होने के कारण उसे पुन अपनाने अथवा कविता के माध्यम से उसका चित्रण करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। यदि इस प्रकार का चित्रण कहीं हुआ भी है तो नगण्य मात्रा में और इतर प्रसगों के अन्तर्गत। उसमें स्वाभाविकता तथा मनोयोग का वह पुट नहीं है जो कि उनकी शृगारिक-रचनाओं में उपलब्ध है। बल्कि इस प्रकार के चित्रण का मुख्य मंतव्य लिजलिजी एव कृत्रिम शृगारिकता को ग्रामीण मांसलता की छौंक लगाकर उसे अधिकाधिक उत्तेजक एव उद्दीपक बनाना ही प्रतीत होता है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शृगार का चरमान्त निर्वेद या वैराग्य में होता है। इसकी अभिव्यक्ति जागतिक रूप में 'भक्ति' के माध्यम से होती है। रीति कवियों के कृतित्व में इसके भी प्रमाण उपलब्ध हैं। आश्रयदाताओं के संपर्क में रहता हुआ रीति कवि शृगार-विलासों का दर्शन ही नहीं आस्वादन भी करता था। राजसभा का एक रत्न अथवा आश्रयदाता का स्नेहभाजन होने के कारण उसे भी वे सब सुविधाएँ उपलब्ध थीं जिनके द्वारा वह अपनी शृगार-लिप्सा की पूर्ति कर सकता था। किसी विशेष परिस्थिति में जब इस प्रकार के विलासयुक्त जीवन के प्रति विरक्ति हो जाती थी अथवा विवश होकर इस प्रकार के जीवन को त्यागना पड़ता था, तो स्वभावत ही उसका झुकाव भक्ति की ओर हो जाता था। केशव रचित 'विज्ञानगीता', देव विरचित 'वैराग्य शतक' तथा 'देवमायाप्रपच', पद्माकरकृत 'प्रबोध-पचासा' तथा 'गगालहरी', घनानन्द का सपूर्ण काव्य तथा ग्वाल प्रभृति कवियों की कतिपय रचनाएँ इसका प्रमाण हैं। इन ग्रन्थों की रचना-प्रक्रिया का अध्ययन यदि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में किया जाय, तो इन कवियों के वैचारिक परिवर्तन तथा वितृष्णा के आविर्भाव को भलीभाँति समझा जा सकता है।

रीति कवियों के व्यक्तित्व में स्वाभिमान की भावना का समावेश रहा होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। वस्तुत इसमें उनका कोई दोष भी नहीं है। जब अपनी जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये किसी व्यक्ति को अपनी स्वतन्त्र सत्ता एव विचार चेतना तक को भी गिरवी रख देना पड़े, तो ऐसी अवस्था में उससे स्वाभिमानी होने की प्रत्याशा कैसे की जा सकती है? परन्तु, एक सामाजिक के रूप में, उनके मन की गहराइयों में स्वाभिमान का अभाव नहीं था। कठिनाई थी तो केवल अभिव्यक्ति की। इसीलिए रीति के व्यक्तित्व का संपूर्ण स्वाभिमान परोक्षत दो रूपों में अभिव्यक्त हुआ है—गर्वोक्तियों तथा अतिशयोक्तियों के विधान के द्वारा

तथा अपनी कवित्व शक्ति एवं आश्रयदाता की अत्यधिक प्रशंसा के माध्यम से। किन्तु स्वाभिमान का इतना निर्दयतायुक्त शमन होने पर भी रीति-कवियों के व्यक्तित्व में विनय तथा दैन्य का (लगभग) अभाव तथा विलक्षण सी अहमन्यता की प्रधानता है। यद्यपि प्रशस्तिपरक रचनाओं में उनकी अत्यंत दीन एव विनीत मुद्राओं की झलक बराबर मिलती है। किन्तु इस प्रकार की विनयशीलता उनकी विवशता की देन हैं न कि सहजात मनोवृत्तियों की। अतः इस प्रकार की विनय भावना को भी (कृत्रिम होने के कारण) निन्दनीय एव उनके व्यक्तित्व का एक आरोपित पक्ष मानना चाहिए। उनकी भक्तिपरक रचनाओं में भी जिस विनय-भावना के दर्शन होते हैं, उसे भी अकृत्रिम एव सहज नहीं माना जा सकता। क्योंकि ये रचनाए भी एक विशेष प्रकार के मानसिक अनुताप एव विवशता के बोध से अनुप्राणित हैं। उनमें भक्ति के उस सहज-स्वाभाविक रूप का अभाव है जिससे भक्त कवियों की चेतना आकण्ठ सम्पन्न है। इस अभाव बोध का कारण रीति-कवियों की इह लौकिकता प्रधान जीवन दृष्टि है। संक्षेप में इन्हीं तथ्यों को उनके व्यक्तित्व की रूपरेखा का परिचायक कहा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर रीति कवियों के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कतिपय निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। युगबोध और इसके साथ ही समय की मांग ने रीति कविवृन्द के व्यक्तित्व को खण्डों में विभाजित कर दिया था। एक ही व्यक्ति को अनेक, और प्रायश परस्पर विरोधी भूमिकाओं में उतरना पड़ता था। जिसके परिणामस्वरूप उनके व्यक्तित्व में 'समग्र व्यक्तित्व' की परिकल्पना का अभाव है। उनके व्यक्तित्व की जिस धारणा को उनकी रचनाओं के आधार पर परिकल्पित किया जाता है, उसके पीछे वैयक्तिक एव निजी प्रेरणा तथा अन्तश्चेतना के स्वर कम हैं और युगानुकूल, उपयोगितावादी एव सामयिक दृष्टि अधिक। यद्यपि युगचेतना उनके संपूर्ण व्यक्तित्व पर हावी है, परन्तु फिर भी कहीं कहीं एक ऐसा घुटा हुआ सा स्वर सुनाई पड़ता है जो कि नितान्त निजी एव व्यक्तिगत सीमाओं की उपलब्धि है। यह तथ्य इस बात का सकेत है कि रीति कवियों के व्यक्तित्व के कतिपय अदृश्य, निजी एवं अनुद्घाटित पक्ष भी हैं। इन पक्षों के व्यवहार एव विस्तार की दिशा उनके परिदृश्यमान व्यक्तित्व से न केवल भिन्न बल्कि विपरीत है। सक्षेप में कहा जाय तो, एक व्यक्तित्व उनके 'मानव' का है और दूसरा 'कलाकार' का। दोनों की मूलभूत धारणाओं में वैषम्यपरक अन्तर होने के कारण इनका सम्मिलित रूप विरोधाभासों का समन्वय' सा बन गया है। जिसमें कि सहजता, एकनिष्ठता एव निखार का अभाव है।

बज्जिका भाषा : सर्वेक्षण : सुझाव

अजित नारायण सिंह 'तोमर'

बज्जिका प्राचीन वज्जि संघ की लोकभाषा है। वैशाली की महिमा इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में वर्णित है। वाराह, नारदीय, मार्कण्डेय और श्रीमद्भागवत पुराणों में इसे विशाल, विशाला तथा वैशाली के नाम से अभिहित किया गया है। वैशाली की चर्चा वाल्मीकीय रामायण के आदिकाण्ड के ४५ वे, ४६ वे और ४७ वे सर्गों में की गई है। ४५ वें सर्ग में इसी स्थान पर देवों और दानवों द्वारा समुद्र मथन की मंत्रणा की चर्चा है। ४६ वे सर्ग में दिति की तपस्या का वर्णन है, जो उसने इन्द्र के मारने वाले पुत्र की उत्पत्ति के लिए की थी। ४७ वे सर्ग में इन्द्र के प्रयत्न से दिति की तपस्या का विफल होना वर्णित है। ४७ वे सर्ग के अन्त में विशाला के निर्माण का इतिहास दिया गया है। भगवान् रामचन्द्र के समय से लगभग ८-१० पीढ़ी पूर्व विशाला नगरी का निर्माण हो चुका था। यह महाभागवत पुराण और वाल्मीकीय रामायण दोनों ही के आधार पर सिद्ध है।

इसका अंतिम राजा सुमति अयोध्या के दशरथ और विदेह के सीरध्वज जनक का समकालीन था। अनुमान किया जाता है कि सुमति के बाद ही वज्जि जनपद में उथल पुथल का श्री गणेश हुआ और लगभग ७२५ ई० पू० तक यहाँ, आदर्श शक्तिशाली गणतंत्र की स्थापना हो गई। गणतन्त्र के इस आदि दीप को राजतंत्र के तिमिर ने भगवान् बुद्ध के निर्वाण के बाद ४८४ ई० पू० तक आच्छादित कर लिया। किन्तु मगध साम्राज्य के पैर लड़खड़ाते ही वैशाली का संघ राज्य फिर सिर तान खड़ा हुआ और चौथी सदी के आरम्भ तक वज्जियों का एक दल लिच्छवि गणतन्त्र शक्तिशाली हो उठा। लिच्छवि-राजकुमारी कुमार देवी का विवाह गुप्तवंशी चन्द्रगुप्त प्रथम (सन् ३२० ३३५) से हुआ था और इतिहास का प्रथम विक्रमादित्य सुविख्यात समुद्रगुप्त—(३३५-३७६ ई०) इन्हीं का सुपुत्र था।

सीमा

वज्जि संघ की सीमा के सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। हेमचन्द्र राय चौधरी के अनुसार इसकी सीमा गंगा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ियों तक[1] पश्चिम में गंडक नदी तथा

---

१. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ ऐंशिएंट इण्डिया, षष्ठ संस्करण, पृ० ११८।

पूव में कोशी तथा महनंदा नदियों तक थी। महापंडित राहुल सांकृत्यायन[२] के अनुसार बज्जिदेश में आजकल के चम्पारन और मुजफ्फरपुर के जिले, दरभंगे का अधिकांश तथा छपरा जिले के मिर्जापुर परसा, सोनपुर के थाने एव कुछ और भाग सम्मिलित थे। डा० योगेन्द्र मिश्र[३] के मत से बज्जि सघ में चम्पारण जिला, मुजफ्फरपुर जिला, दरभगा जिले का समस्तीपुर सबडिवीजन, उसके पूर्व गगा के किनारे-किनारे अपेक्षाकृत छोटा एव आयताकार एक भाग और चम्पारण के मुजफ्फरपुर से सटी नेपाल की तराई के भाग सम्मिलित थे। इन प क्तियों के लेखक के मुह से वर्षों पूर्व बज्जिका भाषा में ही सीमा निर्द्धारण सम्बन्धी सहज रूप में जो वाणी फूटी थी, वह निम्नांकित है —[४]

राजा विसाल के राज पुरातन बइसाली के बाजइ नाम। उत्तर में ऊच माथ हिमाचल पूरूब मिथिलक धाम॥ पऽछिम मऽलक राज विराजइ लुमबिनी पावा तमाम॥ अथ दऽखिन ग गा मइआ गोर धोइथिन करइ मही ग डकी सलाम॥

इन प क्तियों के लेखक ने 'बऽजिका भाषा मुहावरे और कहावते' नामक बऽजिका भाषा के विवेचन सम्बन्धी सर्वप्रथम पुस्तक में १९६१ ई० में लिखा था कि वर्तमान काल में मुजफ्फरपुर जिला, दरभगा सदर का प चमांश, समस्तीपुर का अर्द्धांश, मोतीहारी का अर्द्धांश तथा छपरा जिले के कुछ अश में बऽजिका भाषी निवास करते हैं। उसके बाद चम्पारण और सारन के क्षेत्रों का भ्रमण करने पर एव इस विषय पर श्रीराधावल्लभ शर्मा[५] एव डा० सियाराम तिवारी[६] के लेखों के पठन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि चम्पारण के चोरासाइन पताही, ढाका, मधुबन, पिपरा और केसरिया थाने एव सारन जिले के मरहौरा दिघवारा परदात और सोनपुर के थाने बजिकाभाषी क्षेत्र हैं। दरभगा के सम्बन्ध में लेखक की धारणा पूर्ववत् है।

---

२ वैशाली, प्र० वैशाली स घ बसाढ़ की खुदाई शीर्षक लेख पाद टि पृ० ६५, १९४५।

३ कांग्रेस ५ अभिज्ञान ग्रन्थ ६७ वां भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, पटना, १९६२ ई० पृ० ८०।

४ 'बऽजिका देस बरनेका' शीर्षक कविता प्र० 'उत्तर बिहार' साप्ताहिक, गणतन्त्र दिवस अ क, १९६८ ई०।

५ कांगरेस-अभिज्ञान ग्रन्थ, ६७ वां भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, पटना, १९६८ ई० पृ० १३३।

६ बजिका भाषा और साहित्य, डा० सियाराम तिवारी, प्र० बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९६४ ई०।

क्षेत्रफल और जनसंख्या

अपनी उक्त पुस्तक के लिखने के बाद खोज के फलस्वरूप मैंने पाया कि बऽजिका भाषा-भाषी क्षेत्र का वर्तमान क्षेत्रफल लगभग ५२०० वर्गमील और इसके बोलनेवालों की संख्या सवा सत्तर लाख के करीब है।७

लोकभाषा के सम्बन्ध में लेखक की मान्यता

लेखक की मान्यता है कि कोई भी लोकभाषा प्रकृत रूप में किसी सुसंकृत भाषा से नहीं निकली। मानव ने सर्वप्रथम जहाँ जन्म लिया उसकी मिट्टी ने उसे भाषा भी दी।

बऽजिका स्वत: प्रसूत लोकभाषा है जो वज्जि संघ की लोकभाषा रही थी और जो किंचित परिवर्तनों के साथ आज भी लोक में वर्तमान रूप में प्रचलित है। यह दूसरी बात है कि समय समय पर जो राजभाषाएँ उस भूखण्ड में रहीं उनके कुछ शब्द परिवर्तित रूप में लोक में स्वीकृत हो गये। यथा—जब संस्कृत का बोलवाला रहा होगा उस समय संस्कृत के कुछ शब्द लोक की जुबान पर घिसते पीटते आ गए होंगे, जब प्राकृत अथवा अपभ्रंश, पालि भाषा का बोलवाला रहा होगा उन दिनों उन भाषाओं के कुछ शब्द लोक जुबान के खराद पर चढ़ कर घिस पिट गए होंगे (उसी प्रकार मुसलमानों और अंग्रेजों के समय में उर्दू और अंग्रेजी के कुछ शब्द घिसपिट कर लोक में प्रचलित हो गए)। इससे यह कहना उचित नहीं है कि अमुक भाषा संस्कृत से निकली या प्राकृत से निकली या मागधी अथवा अर्द्धमागधी की भगिनी है।

अन्तर्वर्ग

भाषा के सम्बन्ध में प्रचलित कहावत है—'कोस कोस पर पानी बदले चारकोस पर बानी'। इसीलिए बऽजिका क्षेत्र को पांच भागों में विभक्त किया जा सकता है। हाजीपुर और मुजफ्फरपुर के बीच की रेलवे लाइन मध्य और पूर्वी बज्जिका के बीच विभाजक रेखा का काम करती है। इसके पूर्व समस्तीपुर एवं दलसिंगसराय तक मैथिली का कोई प्रभाव नहीं है, किन्तु लालगंज और वैशाली की बज्जिका से थोड़ी भिन्नता है। दलसिंगसराय से आगे रोसरा तक मैथिली का थोड़ा प्रभाव लक्षित होता है। रेलवे लाइन के पश्चिम गंडक

७. वही पृ० ३।

तक मुजफ्फरपुर जिले का भाग मध्य अथवा आदर्श वज्जिका का क्षेत्र है। सारण और चम्पारण जिले की वज्जिका पश्चिमी वज्जिका है, जिसपर भोजपुरी का प्रभाव है। पुन दरभंगा से नरकटिया गंज वाली रेलवे लाइन के उत्तर जनकपुर, कमतौल, बिरुकी आदि की वज्जिका उत्तरी वज्जिका है, जिसपर मैथिली का प्रभाव है। इधर बछवारा से पश्चिम विद्यापति-नगर से दक्षिण एव गगा के किनारे दिआरे की वज्जिका दक्षिणी वज्जिका कही जा सकती है, जिसपर मगही का ईषत् प्रभाव परिलक्षित होता है। इसका सही मूल्यांकन भाषा का व्यापक सर्वेक्षण होने पर ही हो सकता है।

नामकरण

बऽजिका के नामकरण के सम्बन्ध में डा० सियाराम तिवारी ने लिखा है कि हमारे विचार से इसका तत्सम रूप वृजिका होना चाहिए (उनके अतिरिक्त एकाध पत्र सम्पादक और एकाध लेखक 'वज्जिका' शब्द के व्यवहार का आग्रह रखते देखे गए हैं। इस सम्बन्ध में हमारा दृढ़ मत है कि 'बऽजिका' व्यक्ति वाचक सज्ञा है। आज भी थारू लोग चम्पारन के आर्य निवासियों को 'बजी' कहा करते हैं।८ आचार्य हेमचन्द्र ने वृसी के स्थान पर प्राकृत रूप बिसी का उल्लेख किया है। अवधी 'व' बघेली में 'ब' में परिणत हो जाता है। 'व' का 'ब' में परिवर्तन अवधी की बोलियों में भी होता है। लोकभाषा बऽजिका में वहाँ की जनता के द्वारा 'व' का उच्चारण किया ही नहीं जाता, फिर उस लोकभाषा का नाम 'वज्जिका' कैसे हो सकता है? ऐसे ही कुछ लोग व्रजभाषा को 'ब्रजभाषा' लिखते हैं। श्रीहरलाल माथुर चतुर्वेदी ने अपने ब्रजभाषा काव्य ग्रन्थ में लिखा है—

ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मडल धाम।

गो० तुलसीदास ने श्रीकृष्णगीतावली में लिखा—

अब ब्रजबास महरि किमि कीबो।

* *

ब्रज पर घन घमंड करि आए। आदि

अत स्पष्ट है कि अधिकांश लोकभाषा की प्रकृति ही ऐसी है जिसमें तत्सम 'व' का उच्चारण 'ब' के रूप में ही होता है। बऽजिका के साथ भी यही बात है। इन्ही बातों पर

---

८. वैशाली, प्र० वैशाली संघ, १९४५—वैशाली शीर्षक लेख डा० योगेन्द्र मिश्र पृ० ९२।

९ प्राकृत भाषाओं का व्याकरण पारा० २०१ प्र० बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।

१०. भोजपुरी भाषा और साहित्य, डा० उदयनारायण तिवारी, प्र० बि० रा० भा० प०।

विचार कर ही महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने वज्जि जनसंघ क्षेत्र की भाषा के लिए 'बज्जिका' के नाम का सुझाव दिया था।११ इन पंक्तियों का लेखक भी १९५२ ई० से बज्जिका ही लिखता आया है। आशा है इतना विचार कर लेने के बाद 'बज्जिका' के नामकरण के सम्बन्ध में कोई द्विविधा नहीं रहेगी।

बज्जिका के स्वतंत्र अस्तित्व पर सन्देह की कोई गुंजाइश नहीं है। भाषात्मक भूगोल के विद्वान भाषा ऐटलस पर समुद्र, नदी का दुर्लंघ्य पट विस्तार, सघन वन, दुर्गम पर्वत-घाटियां, विशाल रेगिस्तान, कृत्रिम राजनीतिक सीमा विभेद आदि द्वारा एक बोली को दूसरी से भिन्न करते हैं। किन्तु मैथिली, अंगिका और बज्जिका के लिए कोई विभाजक रेखा (आइसोग्लोस) देखने में नहीं आवेगी। बोली या भाषा प्राकृतिक सीमा नहीं रखती, ऐसा भी देखा गया है। ऐसी स्थिति में जातिगत प्रवृत्तियों का अध्ययन कर दोनों की पृथकता के कारण का पता लगाया जा सकता है। डा० जार्ज ग्रियर्सन ने बज्जिका को पश्चिमी मैथिली कहकर भूल की। किन्तु उनका दोष भी क्या था? वे एक विदेशी विद्वान थे। भाषा की सूक्ष्म परीक्षा न उनका उद्देश्य था और न उनके लिए सम्भव ही था। उनकी दृष्टि बिलकुल स्थूल रही। क्रिया पदों में 'छ' रूप को उन्होंने मैथिली माना और उससे भिन्न रूप को भोजपुरी। साथ ही उन्हें मैथिल पंडितों से सहायता मिली थी, जिसे उन्होंने 'ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि मैथिली डाइलेक्ट आफ दि बिहारी लैंग्वेज ऐज स्पोकेन इन नार्थ बिहार' की भूमिका में स्पष्ट किया है। उन्होंने मधुबनी कचहरी में लोगों के मुँह से जैसा सुना उसका संग्रह किया।

मैथिली और भोजपुरी के अतिरिक्त भी कोई भाषा है इतनी दूर तक सोचने का उन्हें अवकाश नहीं था। श्री चन्दा झा ने उन्हें बता रखा था कि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में गंगा पार बाढ़ तक पूरब में कोशी और पश्चिम में गंडक तक मैथिली का विस्तार है। इसी की न्याय संगति अपने भाषा सर्वेक्षण एवं उपर्युक्त व्याकरण में उन्होंने दिखाने की चेष्टा की। उनका भ्रम तो इसी से सिद्ध है कि मैथिली और मगही का उन्होंने घना सम्बन्ध बताया, तब बज्जिका की कौन कहे? फिर भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि मैथिली उत्तरी दरभंगा के मैथिलों द्वारा शुद्ध रूप में बोली जाती है। उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि पश्चिमी दरभंगा, समूचे मुजफ्फरपुर जिला, सारन जिले के आस-पास और चम्पारन के बड़े भाग में जो भाषा बोली जाती है उसे सुनकर यह कहना कठिन है कि वह बोली मैथिली है या भोजपुरी। इसीलिए कोई नाम न सूझने के कारण उन्होंने उसे पश्चिमी मैथिली कहा।

---

११. आज की समस्याएं, ले० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, १९४१ पृ० १४५।

डा० ग्रियर्सन ने बऽजिका का नाम कहीं मैथिली-भोजपुरी तो कहीं पश्चिमी मैथिली इसलिए दिया कि उन्हें बऽजिका की प्रकृति प्रवृत्ति भिन्न दीख पड़ते हुए भी दूसरा नाम सूझा ही नहीं। किन्तु आज सबको समझना चाहिए कि संमिश्रित भाषा तो दो भाषाओं की भौगोलिक सीमा पर दो चार मील इधर उधर ही हो सकती है। सवा पांच हजार वर्गमील तक फैले हुए बऽजिका-क्षेत्र में भाषा का रूप अनिश्चित कैसे रह सकता है? क्या यह बात भाषा विज्ञान के अनुकूल कभी हो सकती है? डा० ग्रियर्सन ने 'सेवेन ग्रामर्स आफ दि बिहारी लैंग्वेजेज' के दूसरे खण्ड में बऽजिका को भोजपुरी का एक भेद बताया। किन्तु, भाषा सर्वेक्षण के समय ऐतिहासिक तथ्य को भूलकर बऽजि प्रदेश को प्राचीन मिथिला राज्य के अन्तर्गत मानकर उन्होंने—'बऽजिका' को पश्चिमी मैथिली कहा।

सोलह महाजनपदों में जहां मिथिला का नाम निशान नहीं है वहां बज्जि जनपद का उल्लेख हुआ है। अतएव जिस-जिस आधार पर ग्रियर्सन की कल्पना टिकी है वह बालू की भीत सिद्ध होती है। ग्रियर्सन ने शुद्ध मैथिली भाषा-भाषियों की संख्या साढ़े उन्नीस लाख मानी थी जो पिछली जन-गणना के समय ४९ लाख हो गई। उन्होंने पश्चिमी मैथिली अर्थात् बऽजिका भाषा भाषियों की संख्या करीब अठारह लाख मानी थी, जो पिछली जनगणना के अनुसार लगभग सवा सत्तर लाख हो गई है।

बिना मुँह ऐंठे मैथिली बोल नहीं सकते। बऽजिका के भाषा भाषी कोशिश करके भी मैथिली का उच्चारण नहीं कर सकते। मैथिली की तिरहुआ लिपि है, बऽजिका की कैथी। मैथिली केवल मैथिल ब्राह्मणों और कुछ मैथिल (कर्ण) कायस्थों की भाषा है पर बऽजिका अपने क्षेत्र के सभी जाति के लोगों की भाषा है। तथा मैथिली लिपि या भाषा बँगला के निकट है, किन्तु बऽजिका मगही और भोजपुरी के निकट। मैथिली की प्रवृत्ति संस्कृत तत्सम की ओर है जब कि बऽजिका की बिलकुल तद्भव शब्दों की ओर। मैथिली ने संस्कृत शब्दों को ९५ प्रतिशत ग्रहण किया है जब कि बऽजिका ने खुलकर-अरबी फारसी शब्दों को ग्रहण किया है। बऽजिका में मध्यम वर्ण को द्वित्व कर देने की प्रवृत्ति है, जबकि मैथिली में इसका अभाव है। यथा—ओकर (मै०) ओऽकर (ब), राखब (मैं०) रऽखब (ब), मसाला (मै०) मसऽला (ब०)। बऽजिका का समुच्चय बोधक अव्यय 'आ' है पर मैथिली का, 'ओ'। मैथिली और बज्जिका की व्याकरणिक विभिन्नता का ब्यौरा इन पक्तियों के लेखक की पुस्तक, 'बऽजिका भाषा: मुहावरे और कहावतें', तथा डा० सियाराम तिवारी लिखित, 'बज्जिका भाषा और साहित्य' में द्रष्टव्य है।

मैथिली और 'बऽजिका' की बिलकुल व्याकरणिक विभिन्नता के बावजूद आज भी डा०

ग्रियर्सन की दुहाई देकर 'बऽज्जिका' को मैथिली का एक भेद बतानेवाले मैथिली लेखक आम को कटहल का कोआ मनवाने के लिए व्यग्र देखे जा रहे हैं। जैसा डा० ग्रियर्सन ने भी कहा कि मैथिली मैथिल ब्राह्मणों और मैथिल (कर्ण) कायस्थों की भाषा है। यदि कोई मैथिली जयपुर में जा बसा और वहाँ वह अपने घर में मैथिली बोलता हो तो इससे जयपुर की भाषा क्यों मैथिली मान ली जायगी ? इसी तरह यदि दो हजार की आबादी की बस्ती में मुजफ्फरपुर नहीं आरा में ही दस मैथिली नौकरी या व्यवसाय करने चले गए हों और परिवार सहित रहकर घर में मैथिली बोले तो क्या आरा मैथिली भाषी क्षेत्र मान लिया जायगा ? क्या भाषा वैज्ञानिक उसे (रेलिक एरीया) विशेष भाषा क्षेत्र कहेंगे ? हमलोगों ने अपनी अपनी उक्त पुस्तकों में यह सिद्ध कर दिया है कि जिस तरह बऽजिका को मैथिली समझना भ्रान्ति है वैसे ही भोजपुरी समझना भी। बऽजिका की स्वतंत्र सत्ता बहिस्साक्ष्य एवं अन्तस्साक्ष्य दोनों द्वारा सिद्ध है। जो तत्त्व जनसमुदाय एवं भू भागों को एकता के सूत्र में ग्रथित रखते हैं, उनमें भाषा सर्व प्रथम है। यद्यपि वैशाली क्षेत्र और मिथिला क्षेत्र के बीच कोई प्राकृतिक रुकावट नहीं होने के कारण दोनों के अधिवासियों में आवागमन सदा से बना रहा है तथापि दोनों की राज्य व्यवस्था, रीति-नीति, इच्छा आकांक्षा, स्वभाव प्रवृत्ति आदि में पर्याप्त विषमता रही है। इस सम्बन्ध में साप्ताहिक 'उत्तर बिहार' के १९६८ के गणतंत्र दिवस अंक में श्री त्रिशूल द्वारा लिखित 'ज्ञानलवदुर्विदग्धों को नमस्कार' शीर्षक लेख देखें। भाषा की यदि एकता दोनों में रहती तो ये विभेद नहीं होते।

अंगुत्तर निकाय और भगवती सूत्र में सोलह महाजन पदों में वज्जिसंघ का उल्लेख होना और विदेह (मिथिला) का न होना सिद्ध करता है कि उस समय मिथिला में दुर्बल राजतन्त्र रहा होगा। बऽज्जि संघ जैसे शक्तिशाली गणतन्त्र की अपनी भाषा न हो ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता। प्राचीन काल से ही वज्जि संघ की अपनी पृथक् भाषा रही है। लिखित साहित्य के अभाव के कारण इसका अस्तित्व आज भले खतरे में पड़ गया है। किन्तु, लिखित साहित्य का अभाव तो यह भी सिद्ध करता है कि इसका स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि बऽजिका मैथिली के अंतगत होती तो इसमें भी मैथिली के समान साहित्यिक परम्परा होती। मैथिली की एक शाखा में साहित्य रचना होती और दूसरे में नहीं, ऐसा क्या संभव था ? अनुकरण में भी बऽजिका में साहित्य रचना होती। किन्तु बऽजिका में मैथिली के अनुकरण का प्रश्न इसीलिए नहीं उठा कि मैथिली एक विभिन्न जनपद की भाषा थी।

मैथिली की अपनी लिपि तिरहुता है तथापि कैथी का व्यवहार भी वहाँ होता है। अगर बऽजिका का सम्बन्ध मैथिली से होता, तो बऽजिका क्षेत्र के लोग मिथिलाक्षर व्यवहार अवश्य करते

पर तथ्य यह है कि वज्जिका वालों ने ब्रजभाषा, अवधी खड़ी बोली सबको कैथी लिपि में तो लिखा पर इनमें किसी को मिथिलाक्षर में नहीं लिखा। स्पष्ट है कि वऽज्जिका भाषी मिथिलाक्षर को सदैव एक भिन्न बोली की लिपि समझते रहे हैं।

हाथ कंगन को आरसी क्या? दैनिक आर्यावर्त्त में ३१ अगस्त १९५४ ई० को प्रकाशित श्री रामपदार्थ शर्मा द्वारा लिखित 'वैशाली बिहार की प्राचीन बोली' का उद्धरण देखें यह हाजीपुर से मुजफ्फरपुर की रेलवे लाइन से पश्चिम ही नहीं नारायणी के किनारे की आदर्श वज्जिका का नमूना है—"आता हू—इसके लिए वैशाली बोली में अबइत बानी" और "अबइत बारी" ये दो प्रयोग होते हैं। वर्तमान कालिक उत्तम पुरुष की क्रिया में "बाटी" और "बारी" ये दोनों किसी भी अन्य भाषा में नहीं पाए जाते। क्रिया के रूप में पुरुष के अनुसार तो परिवर्तन इसमें होता है, किन्तु वचन के अनुसार नहीं। यथा—"हम अबइत बारी" "हमनी अबइत बाटी"। "तू अबइत बाट" "तोहनी अबइत बाट' "ऊ अबइत बा'", "ओकनी अबइत बा'। इसी तरह अन्यकाल की क्रियाओं में भिन्नता है। ऊ अबइत बारन—आदरार्थक। ऊ अबइत बा—निरादरार्थ।

आदर्श वऽजिका का नमूना

१ श्री रामपदार्थ शर्मा—राम राजा दशरथ के बेटा रहस। राजा दशरथ का चार बेटा रहइ ओमें राम सबसे बर रहस। राम के बिआह जानकी से भेलरहइन। जानकी जी जनकजी के बेटी रहस। जब रामजी का राजगद्दी मीले लगलइन तब केकई का बरा दुख भेलइन। केकई राजा दशरथ से दूगो बर मगलीन। पहिल बर ई रहइन कि राम जी बन में बास आ दोसरई कि भरत जी राजगद्दी पावस। रामजी त बन में चल गेलन, बाकी भरतजी राजगद्दी न लेलन उहो रामजी के खराऊ लेके ओऽकर पूजा करे लगलन आ राजकाज चलावे लगलन। ई कथा बहुत पुरानबा। सब लोग एकरा के जान ले।

डा० सियाराम तिवारी

दक्षिण मुजफ्फरपुर भगवानपुर से पूरब —एगो राजा रहे। ओ करा एगो बेटी भेल। बेटी जब बारह दिन के भेल त ओकरा बारह बरिस के एगो लरिका से बिआह क देलक। बर जब हैबात जनलक त पहिले बरा घबराएल बाकि फेनू ओकरा अपना घरले आएल। कुछ दिन त

ओकरा बाबे रखलक बाकि बाद में गाँवों के एगो औरत से फँस गेल आ ओकरा छोड़ भाग गेल।

ओने लड़की के छोर क ऊ चल गेल रहे, ऊ रोज बहरना के एगो बर के पेंर तर फेंकइत रहे। जब ऊ कुछ लमहर भेल त बर तर जा क कहल करे "बर लागल बरहोर तिरिआ भेल भगजोगनी, हे बर तूँ कहाँ हत।" एगो काग रोज दिन सुइत रहे। एक दिन ऊ लरकी के टोकलक आ पुछलक कि की बात हए। लरकी सब बात काग के बता देलक। काग एगो उपाए बतलकइ—"एगो भंइसा लाऽ, एगो सीसी में सिनुर भर ले आ, एगो सुन्दर चुनरी ले आ।" लरकी सब चीज लएलका। काग भँइसा पर बइठ गेलक आ लरकी रस्सी ध क भैंइसा के ले चलल ।"

३ डा० ग्रियर्सन का नमूना, उत्तरी मुजफ्फरपुर की बोली का

"हम भइस खोल के मुदई के दूरा पर से ले ले जाइत रही। पैरा में चोकीदार से भेंट हो गेल। ऊ हमरा के ध के थाना में गेल। हम्मर मन रहे कि भंइस के देवापुर, जहाँ हम्मर समधी रहइत छथ, बेला आई। बेचे के मन न रहे। हमर खेत दू बेर ई भइस चर गेल ह। हमरा रामकिसुन से अखाज हवे। दू पांजा धान काट ले ले छथ। देवापुर कररिआ से छौ कोस है।"

४ डा० अजित नारायण सिंह "तोमर"

परतछ के परमान की (दक्षिण-पश्चिम दरभंगा, ताजपुर थाना—धर्मपुर-नायरकी भाषा का नमूना)

"रात में मिसिर के मेहरारू कहलकई जे छँउरी जने आइअ तनही घट जाइअ। हमरा असकरुआ के काम न सपरइअ। मिसिर सुलगल इगोरा नाहित मुँह बा क कहलकई जे हम ओकरा कथिला रोकबइ? ऊ त हमरा खाएक ल क जाइअ। हम मट दनि खा लेइत ही आ गते लउट जाइअ, जेना बिढ़नी ला गल रहइक। लरिके त ठहरल। पैरा में खेले में बिथ रहइत होएत। खेलबारी त हइते हए। काम न धधा भढ़ाइ रोटी चन्हाँ। माए जो तरवा के पकाएल मछरी नहिता मुँह क क पुछइ—कहाँ रहले र गे मुंहमउसी इ बेरक? करनी न धरनी धिआ ओठ बिदोरनी वाला हाल हइक। ईकिरिन से ऊकिरिन तक खाएके पहुँचावे में रहइअ। कुम्हरा सूते निचित जेकरा मटिओ न ल जाइ चोर। बेटी कहइ, बहिरा साँप के काटल पर झार के कगनाइ नहिता गते-गते-हम कहाँ कहेइ जाइत हती? माए कहइ हम चलाइ किली के, हमरा चलावे घर के फिडली? लरिका खाइत खाइत कुकिया

मैकी अब कहइम डहली? सिखावे चलले ह गे? लरिका सिखावे गुड़ दादी के जे पुतुक चल गे दादी से पर अरिका के रानी त पहुँचा मँगलक पानी। तरवा के त मुंह के बात मुँहें में रह जाइ। ऊ त डरे सटक सीताराम हो जाइ।"

५ श्री राधावल्लभ शर्मा

पताही थाना, चम्पारण (पश्चिमी और उत्तरी भाग)

"राजा दसरथ के चार गो बेटा रहइन। सबसे जेठ राम रहस। एक दिन राम के रानी सीता बिना खएले सूत रहलिन। राम उनका के जगावेला लछुमन के भेजलन। सीता का अएला पर राम कहलन जे तू अइसन काम काहे कयलू? तोरा खाके सूते के चाहीं। सीता कहलिन जे हमरा मूर में दरद होइत रलइऽ, एही से तहका सूत रहलीह। अपने हमरा एतना खिसिआइल काहे बारी?

६ श्री रामकिशोर ठाकुर

कमतोल, थाना जाले सबडिवीजन, दरभंगा सदर —

"कोनो एक आदमी के दू गो बेटा छलइ। ओइमें से छोटका कहलकइ जे हो बाबू, धन-सरबस में हमर जे हिस्सा-बखरा होय से द दा। ओकरा अपने धन बाँटि क द देलके। बहुत दिन नइ भेलइ कि छोटका लड़का अपन सब कुछ जमा क क दूर देस चहल गेल और उहाँ अवारागर्दी में अपन सब कुछ गँवा देलक। और जब उ अपन सब कुछ उड़ा देलक तब ओइ देस में भारी अकाल पड़लइ और उ कंगाल भ गेल। और उ जाक ओही देस के एगो नमहर आदमी के इहाँ रहे लागल। उ ओकरा अपना खेत में सूगर चराब ला भेजि देलकइ।"

उपर्युक्त छह उदाहरण बऽजिका के अधिकांश अन्तवर्ग के द्योतक हैं। अब बऽजिका को मैथिली का अंग कहने वाले विद्वान् बतलावें कि इनमें से कौनसा रूप सर्व श्री चन्दा झा, तुलापति सिंह, मुकुन्द झा, मुरली झा, नन्द किशोर लाल दास, हरिमोहन झा, नागार्जुन राधाकृष्ण चौधरी, रमानाथ झा, अथवा जीवन झा द्वारा प्रयुक्त मैथिली से साम्य रखता है? इन पंक्तियों का लेखक भी भाषा विज्ञान का विद्यार्थी है और वह भाषा वैज्ञानिकों से अपील करता है कि उपर्युक्त नमूने पर निष्पक्ष रूप में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से विचार कर कहा जाय कि ये नमूने मैथिली के किसी अंग के हैं या किसी स्वतंत्र भाषा के?

आज भी विसफी की भाषा मैथिली नहीं है। इन पंक्तियों का लेखक विद्यापति के गढ़ के इर्दगिर्द के निवासियों से बातें कर आया है। विद्यापति के मौलिक पदों में बऽज्जिका के शब्द, मुहावरे और कहावतों की भरमार है, क्योंकि उनके पूर्वज ओइनी (पूसा, मुजफ्फरपुर) के निवासी थे और शिव सिंह के दरबार में जाने के पूर्व तक वहीं थे। इस कारण उनकी रचनाओं में बज्जिका बोलती है। ये सारे तथ्य भाषा सर्वेक्षण की अपेक्षा रखते हैं।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा भाषा सर्वेक्षण —

बऽजिका या बिहार की अन्य लोक भाषाओं का वैज्ञानिक स्वरूप भाषा सर्वेक्षण के द्वारा ही संभव है। इसी कारण डा० लक्ष्मी नारायण सिंह सुधांशु के प्रस्ताव के अनुसार बिहार सरकार द्वारा संस्थापित एवं संचालित बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने बिहार की भाषाओं का सर्वेक्षण करने का निर्णय किया है।

सर जाज ग्रियसन द्वारा प्रस्तुत भारतवर्ष का भाषा-सर्वेक्षण इस विषय पर व्यापक रूप से किया गया पहला प्रयास है।

डा० ग्रियर्सन की कमिया

ग्रियसन के "भाषा सर्वेक्षण" का कार्यारंभ १८९४ में हुआ था और तीस वर्षों में वह समाप्त हुआ था। इस सर्वेक्षण के परिणाम स्वरूप ग्यारह खण्डों में "भारतवर्ष का भाषा-सर्वेक्षण" नामक ग्रन्थ १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ था। चूंकि इस योजना का कार्यारम्भ १८९४ में हुआ था, १८९१ की जन-गणना में उपलब्ध भाषा सम्बन्धी तथ्यों पर ही यह सर्वेक्षण आधारित है। आगे चलकर १९११ की जन गणना में उपलब्ध सामग्रियों का भी यत्र-तत्र उपयोग किया गया था। इस प्रकार यद्यपि यह सर्वेक्षण इस विषय पर किया गया प्रथम व्यापक और महत्वपूर्ण प्रयास है, तथापि भाषागत तथ्यों की दृष्टि से आज वह लगभग ७२ वर्ष और प्रकाशन की दृष्टि से ४२ वर्ष पुराना है।

ग्रियर्सन के 'भाषा-सर्वेक्षण' में छोटानागपुर क्षेत्र की भाषाओं को छोड़कर बिहार में प्रचलित अन्य सभी भाषाओं और बोलियों को बिहारी भाषा की संज्ञा दी गई है। इस बिहारी भाषा में मैथिली, मगही और भोजपुरी का उल्लेख किया गया है, जिन्हें लोकभाषा (वर्नाकुलर) बताया गया है। अंगिका और बऽज्जिका का कोई उल्लेख इस सर्वेक्षण में नहीं है।

उपर्युक्त भाषा सर्वेक्षण में बिहार की भाषाओं और बोलियों के साथ समुचित न्याय नहीं किया गया है। भारतीय भाषाओं के व्यापक वर्गीकरण की दृष्टि से बिहार की सभी प्रमुख भाषाओं और बोलियों के लिए बिहारी भाषा का नामकरण अवैज्ञानिक तो है ही, भाषा विज्ञान, ध्वनि विज्ञान, अर्थ विज्ञान, लिपि विज्ञान आदि की दृष्टि से भी इसका विश्लेषण नहीं किया गया है।

परिषद् के भाषा सर्वेक्षण का उद्देश्य —

अत: बिहार का भाषा सर्वेक्षण करने का जो संकल्प परिषद् ने लिया है वह ऐतिहासिक आवश्यकता और महत्व की वस्तु है।

इस सर्वेक्षण का उद्देश्य बिहार राज्य के विभिन्न भाषा भाषियों की जन-गणना और विभिन्न भाषाओं के व्यवहार के भौगोलिक क्षेत्रों का निर्धारण करना नहीं है। इसका उद्देश्य राज्य के सभी क्षेत्रों में व्यवहृत सभी भाषाओं के वास्तविक स्वरूप की यथातथ्य सामग्री संकलित करना और उपलब्ध सामग्री के आधार पर उनका वैज्ञानिक और शास्त्रीय अनुशीलन परिशीलन प्रस्तुत करना है।

इस कार्य के लिए भाषागत सर्वेक्षण न करके प्रत्येक क्षेत्र में व्यवहृत प्रत्येक भाषा का सर्वेक्षण किया जायगा। व्यावहारिक रूप में इस सर्वेक्षण के प्रसंग में प्रत्येक जिला के प्रत्येक भाग में व्यवहृत भाषा या भाषाओं के लिखित और उच्चरित स्वरूपों का यथासंभव संकलन किया जायगा।

सर्वेक्षण कार्य के प्रसंग में संकलित विभिन्न भाषाओं की लिखित और उच्चरित सामग्री का भाषा विज्ञान, ध्वनि विज्ञान, और अर्थ विज्ञान की दृष्टि से विश्लेषण और अनुशीलन इस सर्वेक्षण का अनिवार्य अंग होगा। बिहार में विभिन्न भाषाओं की प्रचलित लिपियों का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन भी इस सर्वेक्षण में सम्मिलित है। संकलित सामग्री का विश्लेषण अनुशीलन-परिशीलन और शास्त्रीय विवेचन कर परिषद् द्वारा उसका कालक्रम से प्रकाशन होगा।

बज्जिका भाषा के सर्वेक्षण के सम्बन्ध में सुझाव

इस सर्वेक्षण के सम्बन्ध में कुछ विनम्र सुझाव भी हैं। बज्जिका भाषा का क्षेत्र चूंकि पांच हजार वर्गमील से अधिक दूरी में फैला है और उसके पाँच अन्तवर्ग विद्यमान हैं, इसलिये प्रत्येक

अन्तर्वर्ग के पर्याप्त नमूने संकलित किए जाये। अर्थात् इस भाषा के क्षेत्र के लिए कम से कम १०० स्थान चुने जायं, जो एक दूसरे से १० मील की दूरी पर हों। टेपरेकर्डर द्वारा मानक अवतरण का अनुवाद सुरक्षित रखा जाय ताकि बाद के विश्लेषणों में उनसे सहायता की जा सके जबकि ध्वनि वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा उनकी परीक्षा का अवसर आएगा। एक-एक केन्द्र पर कम से कम दो सप्ताह समय दिया जाय। जो सर्वेक्षण पदाधिकारी जाये वे पहले स्थानीय परिवेश से पूर्ण परिचित हो ले और वहां के समाज में अपने को घुला मिला कर वहाँ के रीति-रिवाज का भी परिचय प्राप्त करे और प्रतिदिन अलग नोट बुक में स्थान विशेष के विषय में नोट तैयार करे। सूचक का चुनाव करने में बहुत सावधानी बरती जाय। एक स्थान पर जितनी जाति के लोग हों उनमें से प्रत्येक जाति के अशिक्षित, अर्द्धशिक्षित और शिक्षित तीनों तरह के सूचकों के उद्धरण संगृहीत हों। सरकार को ओर से स्थानीय कचहरियों के अधिकारियों को लिखा दिया जाय और सर्वेक्षण कर्त्ता उनसे रेकर्ड मांग कर गवाहों के बयानों को नोट करे। डाक्टरों के यहाँ जाकर रोगी की डाक्टर से बाते सुने और उनका टेप लें, साथ ही एक अलग नोटबुक रखें और साधारण जनता की वेशभूषा में रहकर उनकी स्वाभाविक बाते, लड़ाई-झगड़े के प्रसंग, गाली गलौज, औरतों की बाते सतर्क होकर सुने और नोट करे। वहाँ यह भूल जांय कि वे सरकारी पदाधिकारो हैं और सरकारी काम से आए हैं। क्षेत्र में वे अपने को सदा एक ग्रामीण समझें और तद्नुसार व्यवहार करे। फाहियान ने बज्जिका क्षेत्र की मिट्टी का यह गुण बताया है कि वहां के आदमी (स्त्री और पुरुष) बहुत स्वाभिमानी और सच्चे होते हैं। अतएव सर्वेक्षण कर्त्ता को सदैव सूचकों से बाते करते समय इतना ध्यान रहे कि उनके स्वाभिमान पर ठेस न लगे। बातचीत का ढंग मित्रवत् हो और ऐसा न समझें कि चूंकि वे पारिश्रमिक उन्हें दे रहे हैं इसलिए उनसे वे दिन भर काम कर सकते हैं। इससे काम खराब होगा। सूचकों की सुविधा का ध्यान रखना आवश्यक है। सर्वेक्षण पत्रक और मानक अवतरण के अतिरिक्त हर प्रकार की हर सम्भव सामग्री संगृहीत करने की चेष्टा की जाय यथा लोकगीत, लोरियाँ, मुहावरे—कहावते पहेलियां, हर वर्ग के पेशे के तकनीकी शब्द आदि। इससे एक पथ दो काज होगा। सरकार ने जो पैसा और सुविधा दी है उससे अधिक से अधिक लाभ उठाया जाय। सरकार से भी कार्य की गुरुता को समझाकर सूचकों, व्यवस्थापकों, सहायकों को पर्याप्त पारिश्रमिक स्वीकृत कराने की व्यवस्था की जाय। कठिन कार्य और गुरुतर उत्तरदायित्व के कारण सर्वेक्षण कर्त्ताओं को विशेष यात्राभत्ता एव आकस्मिक व्यय की सुविधा मिलना आवश्यक है।

चूंकि परिषद् में अधिकांश जिले के निवासी कार्यकर्त्ता के रूप में संलग्न हैं। और प्रत्येक

जिले के एक एक निरीक्षण पदाधिकारी को भाषा सर्वेक्षण का प्रशिक्षण सरकारी पैसे से दिलाया गया है और भविष्य में भी उन्हीं प्रशिक्षित लोगों को आगे का प्रशिक्षण दिलाने की व्यवस्था अपेक्षित है। इसलिए जिस जिले के निवासी सुलभ हो जायें उन्हें ही सर्वेक्षण पदाधिकारी या क्षेत्रीय सहायक के रूप में उस जिले का काम सुपुर्द किया जाय। साथ ही एक-एक दल के कार्य का निरीक्षण-परीक्षण और उनका तुलनात्मक मूल्यांकन भी समय समय पर किया जाय ताकि प्रोत्साहन पाने से कार्य में प्रगति हो।

'गुरु विलास'—आध्यात्मिक विचार एवं समन्वय भावना

जयभगवान गोयल

'गुरु विलास' सुक्खा सिंह द्वारा गुरुमुखी लिपि में रचित ब्रजभाषा का ५४५१ छन्दों का एक श्रेष्ठ प्रबन्धकाव्य है। यह गुरु गोविंदसिंह के जीवन पर आधारित एक वीर रसात्मक रचना है, जिसका प्रणयन सुक्खासिंह ने संवत १८५४ में केसगढ़ (आनन्दपुर) में किया था। 'गुरुविलास' एक ऐतिहासिक प्रबन्ध काव्य होते हुए भी 'वीरकाव्य' के सभी लक्षणों से युक्त है तथापि इसका सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है। सुक्खासिंह की सिक्खमत में दृढ़ आस्था थी इसीलिए उसने सिक्खमत के आध्यात्मिक विचारों का ही निरूपण नहीं किया वरन् तत्कालीन धार्मिक परिस्थितियों, विभिन्न मतमतान्तरों के मिथ्याचरण एवं पतित अवस्था पर विशदता से प्रकाश डालते हुए सिक्खमत की महत्ता एव उत्कृष्टता का भी प्रतिपादन किया है। साथ ही हिन्दुओं एव सिक्खों की सांस्कृतिक एकता एवं समन्वय का भी प्रयास किया है। सुक्खासिंह का दार्शनिक विवेचन तुलसीदास, नन्ददास या संतोख सिंह जितना विशद अथवा गंभीर नहीं है। उसके आध्यात्मिक विचारों पर प्रमुख रूप से आदिग्रन्थ और दशमग्रन्थ का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। हमारा अनुमान है कि संतोखसिंह की भांति भारतीय दर्शन का विधिवत अध्ययन सुक्खासिंह ने नहीं किया था। उसने तो महज़ 'अकाल उस्तुति' जापु' आदि को ही अपना आधार बनाया लगता है। 'दशमग्रन्थ' के कुछ वाक्य एव शब्द ज्यों के त्यों 'गुरुविलास' में आए हैं। 'आदि ग्रन्थ' से भी कुछ वाणी उद्धृत है।

ब्रह्म

सुक्खासिंह के अनुसार ब्रह्म अच्युत, अनंत, अछेद' अभेद (१२।८१) अलख, अविनाशी (१।२), रूप रेख रहित (१२।८२) आदि पुरख (७।२) है अर्थात् वह निर्गुण और निराकार है परन्तु वही चौदह लोकों का निर्माता (१२।८२) देव, दैत्य किन्नर, यक्ष, मनुष्यों को उत्पन्न करने वाला (१२।८३, १।४) भूमि, गगन, जल, थल में प्रकाशवान, सकल सृष्टि में निवास करने वाला (१।३), करोड़ों सिद्धियों, रिद्धियों का स्वामी है (१२।५)। वह सब में समाया हुआ और सब से अलग है (१।३) शिव, विरन्ची भी उसका भेद नहीं पा सकते इसीलिए उसे नेति नेति कहते हैं (१२।८१, १।५)। अनेक मुनि, जती, ब्रतधारी करोड़ों कल्पों तक उसको ध्याते रहते हैं फिर भी वह हाथ नहीं आता (१।५)। लेकिन

जब पृथ्वी पर अनाचार बढ़ता है तो वह अवतार धारण करता है।१ और दुष्टों के विनाश द्वारा धर्म की स्थापना करके भक्तों को सुख देता है (१२।८४)। 'गुरु मुख' ध्यान करने से उसे पा भी सकता है (१।६-७) ब्रह्म के जिस स्वरूप का उल्लेख सुक्खासिंह ने किया है वह सर्वथा 'आदिग्रन्थ' एवं 'दशमग्रन्थ'२ के ही अनुरूप है। 'दशमग्रन्थ' की ही भाँति उसे 'असिपाणि', 'खड्गकेतु' असिकेतु, 'खडगपाणि' भी कहा गया है। (१।२२।१२।८१, १२।१०२, १२।१३३)।

उपनिषदों में ब्रह्म का 'एकोऽहं बहुस्याम' के रूप में निरूपण हुआ है। इसी प्रकार सुक्खासिंह ने भी उसके लिये कहा है कि वह एक होकर भी अनेक है और सब घटों में उसी का निवास है—

एक अनेक सगल घट माहीं। (१२।८३)
एक अनेक सकल घट बासी। १।२।

वस्तुत सिक्खमत के एकेश्वरवाद से भी यही अभिप्राय है। सिक्खमत की 'निर्गुण ओही, सरगुण भी ओही', आपे निर्गुण आपे सरगुण' की भावना को भी सुक्खासिंह ने तथावत स्वीकार किया है और जिस प्रकार दशम ग्रन्थ में ब्रह्म के असुर-संहारक, अघ विनाशक रूप का विवेचन है उसी तरह यहां भी उसे दुष्टों का विनाशक और संतों का रक्षक माना गया है।

आत्मा —

वेदान्तियों की भाँति सुक्खासिंह ने आत्मा के स्वरूप का तात्विक विवेचन नहीं किया लेकिन जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर थोड़ा प्रकाश अवश्य डाला गया है, यथा —

साहिब जू यों कह परसगा। सागर जुदे न होहि तरंगा।
ज्यों बंदा ताको भर रब्ब। एक तुहू का निरखिओ डब।
खालक अवर पिकवर जान। इकै सूरत बरनत ब्यान। (२६।१४६-४७)
जोति अबद्ध जरार सदा इह ताकह जीवन म्रित पछाने।
कोट कलप्प भए विह बतीत भूत भविक्ख सदा इक साने।
अच्चुत नाथ घटै घट पूरन ताहि म्रित बरु कौन बखाने।

---

१ जब जब होत अरिशट अपारा। तब तब देह धरत अवतारा। दुशट अरिशट दु ब्रक्के कराई। जन भगतन उर रहत समाई (१२।८४)।

२ गुरुगोविन्द सिंह के दार्शनिक विचारों के लिए देखिए "गुरुगोविन्द सिंह विचार और चिन्तन" (लेखक)।

अर्थात ब्रह्म और जीव का वही सम्बन्ध है जो सागर और उसकी तरंगों का। इन दोनों में कोई भी भेद नहीं है। गुरु गोबिन्द सिंह के परलोक गमन के अवसर पर भी कवि लिखता है कि यह जीव जन्म मरण से मुक्त है और सदा एक रस रहता है अर्थात् ब्रह्म-रूप है।

निस्सन्देह आत्मा के सम्बन्ध में भी सुक्खासिंह के विचार गुरुमत के अनुकूल ही हैं। वे आत्मा और परमात्मा की अभिन्नता में विश्वास रखते हैं।

माया —

माया का तात्विक विवेचन गुरुमत में भी बहुत कम मिलता है। 'गुरुविलास' में भी माया के स्वरूप पर बिलकुल प्रकाश नहीं डाला गया। एक स्थान पर इतना भर कहा गया है कि 'माया के मेद में फूले जो लोग हुकम को भूल जाते हैं, वे प्रभु को नहीं पहचान सकते, उनका दिया गया उपदेश भी व्यर्थ है' —

माइया के मद जो जड़ फूले। ऐसे फिरे हुकम ते भूले।
फीके कहै बैन अति भारी। प्रभ की कला न सके विचार।

माया यहां अविद्या के रूप में हो आई है।

संसार तथा इसके सम्बन्ध

सुक्खासिंह ने सिक्ख-गुरुओं की भांति संसार को भी धुंए के समान मिथ्या और नाशवान कहा है। उसके मतानुसार जग का जीवन चार दिन का है क्योंकि मृत्यु सदा सिर पर मडराती रहती है। मिलना और बिछुड़ना ही इस संसार का विधान है। शरीर के सभी सम्बन्ध भी मिथ्या हैं। यह संसार आग का सागर है और सभी पदारथ अनित्य हैं, दुःख के मूल हैं।[३] क्या चींटी और क्या हाथी, काल के दण्ड से कोई बच नहीं सकता (१।१२) तैमूर, बाबर, हिमायू, अकबर जहांगीर, सिकन्दर आदि कितने ही शाह, पीर, पैगम्बर यहां हुए लेकिन सभी को काल का ग्रास बनना पड़ा। यहां अमर वही रहता है जो सब

---

३ इह जग धुमरो धउल भणाजै। कौन मर्यौ और कौन मरीजै। १६। १६४
मिल बिछुरन इह मद्ध संसारा। कीना बिधना कठन सु धारा।
मिथिआ यह देह सनबंधा। चतुर न बांधत याके भंधा। ३।१६३
दुख को मूल पदारथ जानी। है सु अनित्त न नित्त पछानी। २४। २५६

जीवों को परमात्मा का रूप समझकर ब्रह्मभजन करता है—उसके नाम का आधार ग्रहण करता है।४

आवागमन में विश्वास प्रकट करते हुए कवि कहता है कि सभी प्राणी जन्म और मरण के चक्कर में पड़े हुए हैं। वह गधे, बैल, श्वान, नाग, काग, कीट, पतंग आदि की अनेक योनियों में भटकते रहते हैं। सन्तों की सगति से पवित्र होकर ही वह इस बन्धन से मुक्त हो सकता है (२८।३२) गुरु-कथा को भी उसने इस बन्धन से मुक्ति देने वाली कहा है (२१। १३२)। गुरु-पुत्रों को सरहिन्द के नवाब को सौंपने वाले दुष्ट ब्राह्मण के दुष्कर्मों का दुष्परिणाम दिखाकर कवि ने कर्मफल में भी अपनी आस्था प्रकट की है (२१। १९३)। ये सभी विचार सर्वथा 'गुरुमत' के अनुकूल हैं।

इस प्रकार 'गुरु विलास' में ब्रह्म, माया, जीव, जगत, आदि का संक्षिप्त सा ही विवेचन मिलता है। वस्तुत सिक्ख मत स्वत साधना प्रधान मत है। उसमें भी दर्शन का इतना प्रौढ़ और गहन विवेचन नहीं मिलता। सुक्खासिंह ने भी साधना पक्ष के निरूपण पर ही अधिक बल दिया है। उसकी विशेषता यह है कि उसने उस युग में प्रचलित विविध धार्मिक-साधना पद्धतियों पर विभिन्न प्रसगों के माध्यम से प्रकाश डाला है और उनके दोषों एव पाखण्डों को प्रकट करते हुए सिक्ख-मत की साधना-पद्धति की उत्कृष्टता की स्थापना की है।

गुरु —

मध्ययुगीन धर्म साधना में गुरु का अत्यधिक महत्व रहा है क्योंकि वह मानवीय मनोवृत्तियों का परिष्कार करके उसे आध्यात्मिक साधना में प्रवृत्त करता है। तान्त्रिकों के अनुसार गुरु पापों एव दोषों का विनाशक है। सन्तों ने तो गुरु को परमेश्वर के समकक्ष माना है। सिक्खमत में भी गुरु को विशिष्ट स्थान प्राप्त है। 'आदि ग्रन्थ' में गुरु को 'ब्रह्म-रूप' माना गया है।५ और सभी सिख गुरुओं को एक ज्योति-रूप कहा गया है। सिखमत के अनुसार

---

४ चार दिना जग को लख जीवन।
मोत लखै सर ही सिर ऊपर १३। १२६
एक कहै जग आग को सागर। ३०। ४५
गु० वि २२। १४६

५. गुरु मेरा पार ब्रह्म परमेसुर ताका हिरदै धरि मन धिआनु।
(आदिग्रंथ-बिलावल महला ५ पृ० ८२७)
गुरु परमेसरु एको जाणु (वही, गौंड महला ५ ५७८६४)

गुरु की कृपा से ही 'हउमै' का नाश होता है। वह ब्रह्म को मिलाने वाला है और जन्म मरण से मुक्त कर देता है।६ 'गुरुविलास' का प्रतिपाद्य है दशम-गुरु की महिमा का वर्णन, इसलिये उसमें गुरु के महत्व का विशदता से निरूपण हुआ है। यहां भी सिक्ख गुरुओं को ब्रह्म रूप कहा गया है और उसी रूप में उनकी वंदना भी की गई है। 'गुरुविलास" में गुरु गोविन्दसिंह के शब्दों में सतिगुरु का लक्षण इस प्रकार है

हरख सोग चिंता नहीं लोभ मोह ते पाक।
ताको सतिगुर जानिये अद्भुत जाके वाक। २२। ८४।

सिक्ख-गुरु ऐसे ही गुणों के स्वामी थे। कवि ने स्थान-स्थान पर नानक, गोविन्दसिंह तथा अन्य गुरुओं को अच्युत, अलख, अभेद आदि रूप, पारब्रह्म, पूर्ण ब्रह्म, अनंत, पवन रूप, अछलेस, निरविकार, निरवैर, खड्गकेतु, पृथ्वी, आकाश तथा घट-घट में निवास करने वाले, सन्तों के रक्षक, दुष्टों के विनाशक आदि रूपों में स्मरण किया है।७ जिनका यश शेष महेश युगों से गा रहे हैं जो काम धेनु के समान सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले, रिद्धि-सिद्धियों के दाता और गरीब निवाज हैं, (१२।६१, ५।१९५) उनके चरणों में करोड़ों तीर्थों का निवास

---

६ गुरु प्रसादी हउमै जाए (वही, माझ, महला ४, पृ० ११४)
कहु नानक गुरि ब्रहमु दिखाइआ। (वही, गउडी महला १, पृ० १३२)
एक मन ऐसा सतिगुर खोजि लहु, जित सेविए जनम मरण दुख जाई।
(वही, बडहस कीवार महला ३ पृ० ५९१)

७ (क) अचुत अलख अभेद, स्त्री नानक साहिब सबल।
आदि रूप गुरुदेव, पार ब्रह्म पूरन ब्रह्म। १।५६
(ख) वह अचुत नाथ अलेख गुर। जिह को जसु गावत सैस सुर। १९
(ग) अचुत अलख अनत गुर पवन रूप अछलेस।
रोम रोम रच्छक जिसै सकल काल जगतेस। २१।१९९
(घ) अचुत अलख जु एक बखाने। कलप रूप चिंता मणि माने।
काम धेन पारस इक गावैं। मनसा पूर अधिक बिगसावैं। ५।१९५
(ङ) दीन बधु साहिब अवतारी। गाफल गंज संत हितकारी।
खड्गपान खल दल बल गंजन। भगत पाल दीनन दुख भंजन। ५।१९७
निरविकार निरवैर सुआमी। सकल घटा के अंतर जामी।
खड्ग केत आतम के आया। पृहमी व्योम सकल जग छाया। ५।१९८

है (२।४, १९।६७) वे जन्म-मरण से रहित हैं, परन्तु सन्तों की रक्षा हेतु स्वरूप धारण करते हैं।८ जिनके रोम-रोम में करोड़ों ब्रह्माण्ड विद्यमान हैं, ऐसे आदि, अनादि, अगाध ब्रह्म रूप, (१२।१७६) गुरुओं की कवि ने इस प्रकार स्तुति की है

सेस सुरेस दिनेस प्रमेस्वर खोजत हैं जिह को अब तोरी।
सिद्ध मुनी मुन नारद से जिह जाचत है कर कपाट करोरी।
किन्नंर जच्छ भुजग धराधर सेवत हैं जिह को निस भोरी।
सो करुणानिध रूप गुर खालसा अग्र खरे कर जोरी। ९८
छीर समुद्र किधौं गुर पूरन लाल रतन धरे जिह माहो।
अम्रित धेनु ससी सु धनंतर कौन गनै गनही कछु नाही।
रिद्ध सु सिद्ध पदारथ कोटक बीच बसै जिह की पर छाही।
सौ गुर पूरन अम्रित मांगत कौतक सत लख्यौ यहि आही।१२।९९

इस संदर्भ में कवि ने उस मूर्ख औरंगजेब की कड़ी भत्सना की है जो उनके इस शक्तिशाली पूर्ण ब्रह्ममय रूप को न पहचान कर उनसे झगड़ा बढ़ा रहा था।९

गुरुवाणी —

सिक्खमत में गुरुवाणी का भी गुरु समान महत्व है। दशमगुरु ने अपने पश्चात् गुरुओं की वाणी के सकलन 'आदिग्रन्थ' को ही 'गुरु रूप' में अधिष्ठित कर दिया था और आज भी सिक्खों में 'गुरुग्रन्थ साहब' को गुरु समान सम्मान प्राप्त है। 'गुरुविलास' में गुरु एवं 'गुरुवाणी' की एकरूपता तथा गुरुवाणी की महिमा का वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

बाणी गुरू गुरू है बानी। जामै सतिगुर बसै निधानी। (१९।४३)
दस महलन की पढ़ीए बानी। अच्युत सुख पावहु निरबानी।
हम कहि लखो न इन ते दूरी। हम तुमरे सद संग हजूरी।

---

८ संतनकी रच्छा कि काजा। धरे सरूप गरीब निवाजा (३०।६५)

९ जीवन में जल में थल में पुनि राजत है जिह की बर सत्ता।
  ब्रह्मन में सरि पूखन में नर जीव चराचर कील सु कत्ता।
  नानक अगद फेरू तने हरिदास जाको तुम पूरन नत्ता।
  नीच सु जंत अनाथ इह रारि करे तुम सो चवगत्ता। ५।२०६।

एक प्रसंग के माध्यम से इस तथ्य का भी प्रतिपादन किया गया है कि जो सिक्ख गुरुवाणी को भली भाँति समझ कर उस पर आचरण करेगा, वह जन्म-मरण से मुक्त हो जाएगा और सब सुखों को प्राप्त करेगा, लेकिन जो गुरुवाणी की उपेक्षा करेगा, वह कुम्हार के उस गधे के समान मूर्ख और भाग्यहीन है, जो सिंह की खाल पहना दिये जाने पर भी गधा ही रहता है (९।९०-१२६)। सुक्खासिंह के अनुसार गुरु पारस के समान है (२०।१४४-४५, २०।१५६-५९) और यदि कोई गुनहगार भी सद्भावना से उसके पास आता है, तो वह उसे भी पवित्र कर देता है (२६।१४०-७२)। कवि का कथन है कि गुरु सेवा से व्यक्ति कोटि पदार्थों की सम्पदा और मुक्ति प्राप्त करता है (१२।१६९)। जिस प्रकार वैष्णव भक्ति में भक्त और भगवान् के तादात्म्य को स्वीकारा गया है, उसी प्रकार 'गुरुबिलास' में भी गुरु और सिक्ख में कोई भेद नहीं है, ये दोनों एक रूप हैं। स्वयं गुरु जी इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं :—

मोर सिख है मोर प्रमाण। मैं तिनके निज हाथ बिकान। ११।६०

मो संगति सिख तहा सु जानहु। मै तिनते नहीं जुदे प्रमानहु। ३१।४५

कवि की 'गुरु' में दृढ़ आस्था है और उसने निष्ठापूर्वक उनके प्रति अपनी दृढ़ भक्ति-भावना को प्रकट किया है। (१।७-९)

संत '—

सिक्ख-साधना में सत्संगति एवं संत सेवा का भी बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। गुरुमत के अनुसार सत्संगति तथा संत सेवा से 'हउमै' का विनाश होता है, (आदिग्रन्थ-राग सूही, महला ५, पृ० ७७३) माया के बन्धन शिथिल पड़ जाते हैं (सारंग, महला ५, पृ० १२१६) भक्ति प्राप्त होती है और सर्वत्र परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं (वही, गउड़ी, महला ५ पृ० १८९)। 'गुरुबिलास' में सन्तों को ब्रह्म रूप माना गया है। उसके अनुसार 'साहब' और सन्त एक रूप हैं।१० गुरुजी भी सन्तों से अपने को पृथक् नहीं मानते।११ सुक्खासिंह का कथन है कि सन्तों के हृदय में नित्य परमात्मा निवास करता है।१२ ऐसे

१०, ज्यों साहिब अर ताके संत। एक रूप सुजान बिअंत। २६।१४८।

११, मैं अर यों संतन के माहीं। तनक भेद अंतर कछु नाहीं।
एक रूप बिचरत संसारा। मैं तिनके नहीं तनक निआरा। ३।९

१२, संतन के उर मैं तिन बासा। निस दिन करही ताहि प्रकाशा। १।१०

सन्तों का काल भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता (१।११)। ऐसे संतों की संगति से काल का फंदा कट जाता है, जन्म मरण से मुक्ति हो जाती है और जीव श्वान, गधे, बैल, हाथी, नाग, काग आदि पशु-पक्षियों की योनियों में नहीं पड़ता। सत्संगति से मनुष्य संसार के सभी प्रपंचों को काट कर, मोह, माया, काम, क्रोध आदि से बचकर पवित्र हो जाता है और हरि-भक्ति में अनुरक्त होकर अनहदनाद सुनने लगता है '(२८।३२-३३)। उदासी कन्हैया के प्रसंग में कवि ने सेवा के महत्व का भी निरूपण किया है। (२०।३९-५४)

ज्ञान, भक्ति, योग, कर्म आदि की चर्चा इस ग्रन्थ में अधिक नहीं हुई, लेकिन ग्रन्थ के अध्ययन से इसमें सन्देह नहीं रह जाता कि कवि ने भक्ति को ही अधिक महत्व दिया है और 'नाम' को हरि प्राप्ति का मुख्य साधन माना है। (१।१९)

सत्रहवीं-अठारहवीं शती में उत्तर भारत में विभिन्न धार्मिक मत मतान्तरों, पंथों एवं सम्प्रदायों की विविध साधना पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इस युग के अधिकतर सम्प्रदायों में मिथ्याचारों एवं बाह्याडम्बरों का प्राधान्य था। यहाँ तक कि सतमत में भी जो मुख्यत इस प्रकार की मिथ्या-साधनाओं और आडम्बरों के विरुद्ध खड़ा हुआ था, अनेक प्रकार के बाह्याचारों को ग्रहण कर लिया गया था। राम और कृष्ण भक्ति धारा में तो पहले ही रसिकता एवं कामुकता का प्रवेश होने लगा था।

सुक्खासिंह ने 'गुरु-बिलास' में उस युग की हिन्दुओं की धार्मिक अवस्था का बड़ा ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया है। ऐसे मूर्ति-पूजकों, यतियों-सिद्धों, नाथों-योगियों, सन्तों-सन्यासियों (१२।३३-३४) देवी-पूजकों (१९।१२८ ३५), राम एवं कृष्ण के भक्तों (२६।५०-९०), *अन्य अनेक अवतारों की पूजा करनेवाले* वैष्णवों (१२।१३३-३४), गले में लिंग लटकाने वाले शैवों (२८।१०) आदि का, जो प्राय बाह्याचारों में फंसे हुए हैं और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और उसकी भक्ति को विस्मृत किये हुए थे, कवि ने विशद वर्णन किया है। कवि का कथन है कि इस कलिकाल में सच्चा साधु तो कहीं कोई एक दो ही मिल सकता है (२६।३६)। गुरुगोविन्दसिंह ने 'अकाल-उस्तुति' में ऐसे साधकों का उल्लेख किया था और उनकी अहंकार-युक्त मिथ्या साधनाओं का खण्डन करके प्रेमा-भक्ति का प्रतिपादन भी किया था। 'गुरुबिलास' में भी ऐसे प्रसंग हैं जहां कवि ने इस प्रकार के साधकों की पतित दशा का निरूपण किया है और गुरु जी को उनकी भर्त्सना करते दिखाया गया है। यही नहीं, इन साधकों को अन्त में गुरुजी द्वारा निर्दिष्ट साधना मार्ग के महत्व को स्वीकार करते हुए भी दिखाया गया है। बठिंडा में सिद्धों के साथ (२३।७३-७४) दक्षिण में पीरों एवं काजियों के साथ गोष्ठी में (२६।१४०-१५१) उनकी मान्यताओं को मिथ्या सिद्ध करके

गुरुजी अपने मत का प्रतिपादन करते हैं और काज़ी भी धन्य-धन्य कह उठते हैं (२६।१७७)। किस प्रकार पाखंडी ब्राह्मण धन के लोभ से अपना धर्म-ईमान तक बेचने को तैयार हैं और रुपये के लालच में मांस-मदिरा तक का सेवन कर लेते हैं (८।७-३०) ऐसे एक प्रसंग में कवि ने गुरुजी को ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान को खंडित करते हुए दिखाया है। ये लोग अपने पाखंडों से लोगों को लूटते रहते हैं। गुरुजी उनकी कड़ी भर्त्सना और अपमान करते हैं लेकिन जो ब्राह्मण अपने धर्म पर स्थिर रहते हैं उनका वे पूरा सम्मान करते हैं। वस्तुतः गुरुजी हिन्दुओं में यह भाव पैदा करना चाहते थे कि वे किसी भय, आतंक अथवा लोभ से अपने धर्म से विचलित न हों। शाक्त लोग जिस प्रकार देवी की प्रसन्नता के लिये भैंसों की बलि देते हैं, उसका निषेध करके उन्होंने 'शस्त्र' को ही जो कि ब्रह्म की देह से उत्पन्न है (१।२० २५) इस का वास्तविक रूप घोषित किया (२३।७७) शाक्तों को उन्होंने पत्थर के समान कहा है (१९।८९-३५)। ऐसे अन्य अवतार जो स्वयं अपनी पूजा करवाने लगे थे, उनकी पूजा का भी उन्होंने निषेध किया (१७।९०)। पूर्व के सिक्ख गुरुओं द्वारा संस्थापित मसंदों की पतित दशा का भी इस ग्रन्थ में निरूपण हुआ है, और जिस प्रकार इन लोभी, पाखंडी, अंहकारी मसंदों को, जिनमें धर्म कर्म नाम मात्र को ही रह गया था (११।२५, ७२, ४५-६०) कठोर यातनाए देकर (तवे पर जलाकर—११।६८) विनष्ट किया गया, उसका भी यहां वर्णन किया गया है।

कवि ने मुसल्मानों के आतंक एव इस्लामी संस्कृति के स्वरूप पर भी कुछ प्रकाश डाला है। उसमें भी सूफी, काज़ी, पीर, मफ़्ती शेख, मुलाने, सैयद, मुगल पठान आदि अनेक सम्प्रदाय, वर्ग एव जातियां थीं (२७।७४)। किसी को इस बात का अभिमान था कि वह नित्य क़ुरान (कतेब) (२२।१२७-३१) पढ़ता है, किसी को यह वहम था कि उसे बंदगी करने से या आयते पढ़ने से परमात्मा क्षमा कर देगा (२२।१३३-४४) किसी को हिन्दुओं की देव मूर्तियां तोड़ देने का भी गर्व था, परन्तु गुरुजी इनके इस मिथ्या-विश्वास का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब तक अमल साफ नहीं होता—अर्थात् शुद्धाचरण नहीं होता, तब तक क़ुरान पढ़ना या बंदगी करना सब व्यर्थ है (२२।२३३-२३५)। उनके अत्याचारों को भर्त्सना करते हुए वे कहते हैं कि इस संसार में तैमूर, बाबर, हिमायू, अकबर, जहांगीर जैसे कितने ही विजेता आये, लेकिन काल ने सभी को विनष्ट कर दिया। संसार में वास्तविक विजय तो उसी की है जिसकी कीर्ति संसार में शोभित हो, और जो सब जीवों में परमात्मा के दर्शन करता है।[१३]

---

१३ जीवते सोइ जिह सोइ जगत मैं कीरत जसु जिह धरन छाए।
नाम अधार निज बंदगी आवरे सरब सदान खालक लखाए। २२।१४६

'गुरुविलास' में जिन अन्य मर्यादाओं-आचरणों एवं कर्मकाण्डों का निषेध किया गया है तथा जिन आचरणों में आस्था प्रकट की गई है वे इस प्रकार हैं :

१—'गुरुग्रन्थ' साहिब में जनेऊ धारण करने का निषेध किया गया है। यहाँ गुरुगोविन्दसिंह यद्यपि एक बार माता के आग्रह से जनेऊ धारण कर लेते हैं लेकिन अन्ततः इस ग्रन्थ में इसका निषेध ही किया गया है। दया की कपास के जनेऊ को ही वास्तविक माना गया है। (१२।१७६, ५।१८५, ५।१९०)।

२—श्राद्ध एवं मुंडन का त्याग।

३—सिर सिद्दक का निषेध पर दान का समर्थन।

४—क्षत्रधर्म के महत्व को स्वीकारते हुए भी 'गुरुविलास' में वर्णाश्रम व्यवस्था का विरोध किया गया है और मानवीय समता एवं एकता में विश्वास प्रकट किया गया है (१२।१२९ १४०)। क्षत्रधर्म पर कवि ने इसलिए बल दिया है कि वह हिन्दुओं की शक्ति को जगाए रखना चाहता है।

५—वेद लोक-मर्यादा को न मानकर सभी वर्णों के भोजन की एक जगह लंगर में व्यवस्था करना (१२।१३६)।

६—साधु संत की प्राप्ति ही वास्तविक बंदगी है।

७—झूठ को त्याग कर, स्वयं शुद्ध होकर संत सेवा करना तथा पवित्रता ही असली बंदगी है। यही धर्म है, भक्ति भी यही है, यही आत्मज्ञान एवं आत्मशुद्धि, यही प्रभु-प्रेम है (२६।१५१)।

८—गुनाहों का त्याग एवं गुरुवाणी में आस्था। २२।१२७-३७।

९—हठयोग की अनहद नाद ('१।१३) दसमगृह, सचुखंड (१।१४) आदि शब्दावली को कवि ने कई स्थानों पर ग्रहण किया है। यह भी स्वीकार किया है कि जीव को सिद्ध बनना चाहिए परन्तु ऐसा कि उसके तन मन की शुद्धता हो, 'मद्धि, बद्ध रखे तन न्यारो' १९।४२-४६, ३।१४।

१०—अंतिम इंसाफ में आस्था २१।११३-३७।

जीव की साधना की स्थितियों का कवि ने इस प्रकार निर्देश किया है

एक : जिज्ञासा। दो ईश्वर कृपा से सद्गुरु की प्राप्ति।

तीन उसकी संगति से कश्मल का नाश होना।

चार : ईश कृपा, गुरु प्राप्ति, गुरु सेवा, एवं नाम स्मरण।

तब शरीर पाक-पवित्र हो जाता है।

गुरु गुनाहगार को भी पवित्र कर देता है (२६।१४०-१७२) । तन की पवित्रता से मन की पवित्रता होती है और यही साधना की उत्तम स्थिति है (२६।१६३) । सिक्खमत की आदर्श मर्यादा को उसने इस सूत्र में प्रस्तुत किया हैं 'पंच सु मेल पंच सु त्यागी' ३०।२८। पंच मेल से अपुत्री की पंच परमेसुर पंच पुरधान' की ओर संकेत है और पंच त्याग से अभिप्राय काम, क्रोध, मोह, मद एवं मत्सर आदि से है।

खालसा

'गुरुविलास' के कवि ने सिक्खमत के सैद्धांतिक पक्ष का अधिक निरूपण नहीं किया, उसकी साधना-पद्धति का भी उतनी विशदता से प्रतिपादन नहीं किया जितना 'दसमग्रन्थ' या 'गुरुप्रताप सूरज' में हुआ है लेकिन खालसा के जन्म, उसकी स्थापना के कारणों, उसकी मर्यादा (१२।८३-८६) एवं स्वरूप (१२।९१, १२।८३-८६), रचना उद्देश्य (१२।८३-८६) एवं महत्व आदि का कवि ने अत्यन्त विस्तार से वर्णन किया है। खालसा को कवि ने गुरुरूप माना है (१२।३२), वे (गुरु गोबिन्दसिंह) स्वयं उसके सम्मुख हाथ जोड़कर खड़े होते हैं (१२।९८ १०७) तथा उससे अमृतपान कर उसके महत्व को प्रतिष्ठित करते हैं। 'खालसा-पंथ' को कवि ने विशिष्ट महत्व दिया है (१२।१८४) और शस्त्र प्रेम तथा हरिनाम स्मरण करना, यही उसका आदर्श माना है (१२।१६४) । कवि की खालसा में अपूर्व श्रद्धा है और वह निष्ठापूर्वक उसके स्वरूप एवं महत्व का वर्णन करता है।

समन्वय भावना

सुक्खासिंह ने मध्ययुगीन भारतीय समाज और संस्कृति का यथार्थ चित्रण किया है। उसने खालसा पथ को विशिष्ट महत्व अवश्य दिया है पर उसका धार्मिक दृष्टिकोण बहुत उदार है। यवन विरोधी स्वर 'गुरु-विलास' में प्रखरता से मुखरित है, हिन्दू-धर्म की विकृतियों, मिथ्याचारों का विरोध भी खुल कर किया गया है लेकिन उसमें कहीं भी हिन्दूधर्म से अलगाव की भावना दिखाई नहीं पड़ती। बल्कि लगता ऐसा है कि कवि की प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धर्म-साधना में पूर्ण आस्था है। सिख गुरुओं की समस्त धर्म साधना भी मूलतः भारतीय धर्म साधना का ही एक सहज एवं परिष्कृत रूप है और इन्होंने भारतीय-संस्कृति के पुनरुत्थान का ही एक सशक्त आन्दोलन चलाया था और सुक्खासिंह ने इन्हीं गुरुओं की गौरव गाथा, उनकी धर्म साधना रहित मर्यादा एवं महिमा का वर्णन 'गुरुविलास' में किया है। अतः 'गुरुविलास' का सांस्कृतिक स्वर वही है जो 'आदिग्रन्थ' और 'दसमग्रन्थ' का है। जिस प्रकार

'रामग्रन्थ' में पौराणिक आख्यानों, पात्रों, प्रसंगों एवं उद्धरणों के माध्यम से एक विशिष्ट सांस्कृतिक चेतना जागृत करने का प्रयत्न किया गया है उसी प्रकार 'गुरुविलास' में भी अनेक पौराणिक प्रसंगों के माध्यम से इस जीवित सांस्कृतिक परम्परा का महत्व स्थापित किया गया है। इस युग में हिन्दूधर्म की दो धर्म-साधनाए प्रमुख थीं—एक वैष्णव दूसरे शैव एवं शाक्त। 'गुरुविलास' में इन दोनों वर्गों के प्रभाव को स्वीकार किया गया है।

इसे कवि की सचेतना, समन्वय भावना का परिणाम भी कहा जा सकता है। कहीं-कहीं तो इस प्रभाव को ग्रहण करने का आग्रह इतना अधिक है कि वह सिक्ख-मत के प्रतिकूल पड़ता दिखाई देता है। लेकिन वह हिन्दू और सिक्खों के सांस्कृतिक एवं धार्मिक समन्वय के लिये इतना सचेष्ट है कि उसने इस सैद्धांतिक विरोध की तनिक भी चिंता नहीं की है।

हिन्दुओं के पुराणवाद का 'गुरुविलास' में अत्यधिक प्रभाव है। हरिश्चन्द्र के राज्य की स्थिति एवं उसके सत्यपालन (२-४०, २।७६, २।५७), हीराघाट, गोदावरी, आदि की पौराणिक कथाओं (४।८७) तथा काशी, प्रयाग, हरिद्वार आदि हिन्दू तीर्थों की महिमा आदि के वर्णन द्वारा (१८।१००-१०८) कवि ने प्राचीन हिन्दू संस्कृति में अपनी निष्ठा प्रकट की है। इस गौरवपूर्ण अतीत का स्मरण करके एक ओर तो वह हिन्दुओं के आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान को जगाता है और साथ ही हिन्दू सिक्खों की सांस्कृतिक अभिन्नता एवं एकता को भी व्यंजना करता है।

'गुरुविलास' का सम्पूर्ण वातावरण मिश्रित है और उसमें अवान्तर कथाओं, प्रासंगिक घटनाओं, उद्धरणों अथवा अलंकरण के रूप में अनेक पौराणिक आख्यानों का प्रयोग हुआ है। ये कथाए किन किन पुराणों से ली गई हैं, यह खोजना या जानना बहुत महत्व नहीं रखता। वैसे भी मैं नहीं समझता कि प्रत्येक कवि जिन पौराणिक प्रसंगों का प्रयोग अपने काव्य में करता है, वह किसी पुराण को पढ़कर ही ऐसा करता है। बहुत से कवियों की पहुँच इन पुराणों तक प्रायः नहीं होती। सुक्खासिंह ने भी शायद ही पुराणों का अध्ययन किया हो। पुराणों के कितने ही प्रसंग भारतीय लोक-जीवन के अभिन्न अंग बने हुए हैं और एक अनपढ़ हिन्दू भी ऐसी अनेक कथाओं से परिचित है। सुक्खासिंह ने भी सम्भवत इन कथाओं को लोक-जीवन से सुनकर अपने काव्य में प्रयुक्त किया है। इसलिए कवि के पौराणिक ज्ञान की परीक्षा करके उसे पंडित घोषित करना इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितनी वह दृष्टि जिससे कवि ने इन प्रसंगों का प्रयोग किया है। जब कवि किसी सिक्ख गुरु, उनके किसी आचरण, उपदेश, घटना अथवा महिमा आदि का वर्णन किसी पौराणिक व्यक्ति, पौराणिक आख्यान से साम्य स्थापित करके करता है, तो उससे हिन्दू-सिक्खों की सांस्कृतिक एकता, अभिन्नता एवं समन्वय

की जो भावना विकसित होती है, वह अधिक महत्व रखती है। हिन्दू पुराणवाद-मिथक को सिक्ख गुरुओं के साथ सम्बद्ध करके एक विशिष्ट समन्वयकारी भावना को प्रश्रय देता है। इस प्रवृत्ति के दर्शन हमें इस युग के सभी सिख कवियों में मिलते हैं, चाहे वह सुक्खासिंह हो या 'गुरुप्रताप सूरज' का रचयिता संतोखसिंह। आज जब सिक्ख संस्कृति, सिक्ख नेशनेलिज्म अथवा सिक्खमत के हिन्दुत्व से अलगाव की भावना पनपने लगी है, उसके उन्मूलन के लिये मध्ययुगीन इन सिक्ख ग्रन्थों की यह समन्वय भावना विशेष राष्ट्रीय महत्व रखती है। दर-असल सिक्ख नेशनेलिज्म जैसी विघटनकारी प्रवृत्तियों का प्रचार कुछ अंग्रेज विद्वानों ने अपने निहित उद्देश्यों से ही किया था। 'गुरुविलास' में ऐसे प्रसंग मिलेंगे जहाँ सिक्ख गुरुओं की हिन्दू अवतारों के साथ एकरूपता का निरूपण किया गया है। कहीं इन्हें रावण, कुंभकरण आदि का वध करने वाले राम तथा कंस, जरासंध, आदि का संहार करने वाले कृष्ण एवं शुंभ-निशुंभ का विनाश करने वाली 'काली' कहा गया है।१४ तो कहीं देवों अदेवों को बनाने वाले कहा है। कवि का कथन है कि मुस्ट, चन्डूर, भूमासुर आदि को मारने वाला ही अब शत्रु को नष्ट करके विजय-दुंदुभि बजाकर शहनशाह (गोविन्दसिंह) बना बैठा है।१५ कवि की मान्यता है कि वेद, पुराण, स्मृतियां किन्नर, यक्ष, देव, दैत्य एवं ब्रह्म जिसे ध्याते है, और शेषनाग जिसे नेति-नेति कहता है सो वह यही गुरु है।१६ कवि ने एक स्थान

---

१४ यौ सुन के मुख को ताका। बोल्यो संत सुमत वर पाका।
अस जोधा तो राम वर वाही। चौदह भवन प्रगट कोऊ नाही। २३६।
काम क्रोध दुशटन अवतारी। जिन कीती सम खलक खुआरी।
महाघनख घर अति वर बला। जिनु जीते खल दल घर कला। २३७
रावणादि जिह प्रगटि सहारे। कुंभकरण मद्धकैट प्रहारे।
सुंभ नसुंभ कोन खलध्वसा। जरासंध दुरजोधन कंसा। २३८।
बड़े-बड़े मोनी अवतारी। बरन विरंच सूर ससि मारी।
सुर नर नाग जान असरीत। जिन को दब सरब के सीसा (६।३९)

१५ देव अदेव करे इनके तुम ही जग में सब ज्योत बनाई।
रावन से रिपु कोट हने पुन कोट तेतीस की बंद छुडाइ।
मुस्ट चंडूर, सु कस किसी हरि भू सुत की त्रिज अंग लगाइ।
सौ अब शाहनशाह भयो अरिचूर कै जीत की बंब बजाई। १५।२३९

१६, सिम्रित बेद पुरान पछानहु। किन्नर जच्छ देव अर दानो। १३६।
कमलज बदन चार जिह धिआई। पूत पांच खटु तिह सिस आई।
सो वह इही गुरू कल अवरा। कह हम सौं सप ही इह ठवरा।
इह विध सो जब सिंह बखानी। तबै दुनी त्रिगपति यों ठानी। १५।१३६-१३७।

कर यह भी लिखा है कि गुरुगोविन्दसिंह ने गोकुल, वृन्दावन, मथुरा की यात्रा में उन सभी स्थानों को देखा जहां उन्होंने अनेक लीलाएं की थीं। धाय-वध, काली दमन, गजवध, एवं कंस वध के स्थान भी देखे (२६।१-१२)।

'गुरुविलास' में सिक्ख गुरुओं से सम्बन्धित घटनाओं की हिन्दू अवतारों की पौराणिक घटनाओं से समता भी प्रदर्शित की गई है। उदाहरणार्थ—जिस प्रकार पूर्व अवतारों ने धरा को दुष्टों से छीन कर अपने भक्तों को दिया था, उसी प्रकार गुरुजी ने भी इसे मलेच्छों से छीनकर 'खालसा' को प्रदान किया।१७ गुरुगोविन्दसिंह की माताजी को कौशल्या समान (३।७५-८५), गुरुजी को राम, कृष्ण, शिव के समान (४।४, ६।११४-२२, ६।२१४) तथा सोढी वंश को सूर्य वंश (४।५) एवं गुरुजी के पटने से प्रस्थान को राम के वन-गमन के समान बताया गया है (३।१६६-७५)।

इस पौराणिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त सुक्खासिंह ने अनेक प्रसगों में हिन्दू-संस्कृति के प्रमुख चरित्रों, अवतारों, ऋषि-मुनियों आदि का उल्लेख भी श्रद्धापूर्वक किया है। राम, कृष्ण, विभीषण, रावण, पांडव, कौरव, वराह, बली, बावन, हिरण्यकश्यप, परशुराम, देवी, हरिश्चन्द्र, विश्वामित्र, नारद, अगस्त, इन्द्र, दिलीप, नल, पारथ आदि ऐसे पात्र हैं जो 'गुरुविलास' में आये हैं और जोकि हिन्दू धर्म, संस्कृति और इतिहास से सम्बन्धित हैं। इस्लामी इतिहास के किसी भी ऐसे पात्र का उल्लेख 'गुरुविलास' में नहीं मिलता। यवनों को तो उन्होंने असुर

---

१७ जो धरनी हरनाछ हरी बर जीत जिसे सो बिराडल्यायो।
बार इकीस छितीस बिदार सो न दन दै म्रिग बिप्र रिझायो।
जा लग छत्रन देवन के गन जूझ मरे कछु पार न पायो।
सो धरनी गुर दै निज खालसा पच्छ तरे करन जी सकुचायो। ६०
यो कर सीस तरे गुर पूरन पै इन को इह थोर सु दीनो।
मो शरणागत जो सु परै तिन कठन कमी मन में तुम चीनो।
रिद्ध सु सिद्ध समै निज संपत मो पद कंज सु आह अधीनो।
मैं सु दयो इन को सु अछेपद आहिन पावत है पुर तीनो। ६१
सत जुग सतम्रित जल कीने। केवल राज अमर पुर लीने।
बल बावन ते देह मिनाई। रावन सीस ईस दै पाई। ६२
भोज दिलीप किधौं नलराई। बड उपमा करके म्रिह आई।
पारथ म्रिप रजकोट सहारे। किशन पक्ख कीनो निरधारे। ६३
अद्भुत अधिक क्रिया जब कीनी। तब यह छीन तवन कह दीनी।
पछ सतन ते अग्र सिधाई। तुरक मलेछन पै तब आई। ६४
सो अवनी सतिगुर करतारा। सिरे पाठ दे इन बिचारा। ६५।

ही कहा है और उनकी भर्त्सना की है। 'खालसा पंथ' की स्थापना के प्रसंग में भी अगस्त्य, परशुराम, राम, गनेस, धनेस, गंधर्व, किन्नरों की ही कथाओं का उल्लेख हुआ है (१२।११०-११५, १२।९८, १४।१८२-१८३, १५।७, १८।३४)। कवि की काव्य-चेतना पर यह भावना इतनी गहराई से छाई हुई है कि वह इस समृद्ध पौराणिक परम्परा से अनेक प्रसंगों का उपमानों के रूप में भी चयन करता है (१२।१६३, २०।३१)। खालसा-पंथ की रूपक-योजना भी वह क्षीर सागर के माध्यम से करता है (१२।१६३)। इस मिश्रीकरण के अतिरिक्त कवि ने हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानों—मथुरा (२।१ ३) गोकुल, गोदावरी आदि की पवित्रता एवं महिमा (२६।१-१०, २८।७१, ३८, १००-१०८) आदि का निष्ठापूर्वक वर्णन किया है। गुरु तेग बहादुर अथवा गुरुगोबिन्दसिंह इन तीर्थ स्थानों पर साधारण हिन्दू-भक्तों की तरह से विचरते दिखाये गये हैं। वे याचकों को दान भी देते हैं और ब्राह्मणों का आदर भी करते हैं। ब्राह्मण गुरु जन्म के समय लग्न भी देखते हैं और दाह-संस्कार के समय भी उपस्थित हैं। 'गुरुविलास' में ब्राह्मण द्वारा गुरु जी को उपवीत पहनाने का उल्लेख भी है। वस्तुतः गो, ब्राह्मण की रक्षा को तो गुरु जी का एक विशेष लक्ष्य माना गया है। इस तरह गो, ब्राह्मण, वेद, पुराण एव तीर्थों में आस्था प्रकट करके कवि ने वैष्णवों के प्रभाव को ग्रहण किया है। धूप, दीप, नैवेद्य आदि की पूजा विधि को यहां स्वीकार किया गया है। यही नहीं सिक्खों के तीर्थ स्थानों को भी अनेक पौराणिक प्रसंगों से जोड़ कर उसका महत्व स्थापित किया गया है। सतलुज की पौराणिक कथा इसका प्रमाण है (४।६२-७०)। पटने को भी हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा से जोड़ा गया है। वैष्णवों और सिक्खों की सांस्कृतिक एकता को और दृढ़ करने के लिए कवि ने वैष्णवों के अनेक धार्मिक पर्वों—होली, बैसाखी, दीपावली, विजयदशमी, आदि का भी वर्णन किया है, जिन्हें स्वय गुरुजी मनाते दिखाए गए हैं (१४।१, १३।६६, २७।३)। वहां कहीं भी ईद, बकरीद आदि का वर्णन नहीं है। शैवों एव शाक्तों के प्रभाव को तो इससे भी अधिक मजबूती से ग्रहण किया गया है। "गुरुमत" में अकाल पुरुष को छोड़कर अन्य सभी देवी-देवताओं के अवतारों की पूजा का निषेध है। स्वय गुरु गोबिन्दसिंह ने भी "दशमग्रंथ" में उनकी आराधना का विरोध किया है।[१८] लेकिन "गुरुविलास" में गुरु गोबिन्दसिंह को एक निष्ठावान देवीभक्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे एक श्रद्धालु भक्त की तरह से अविचल बैठकर माता चंडी की आराधना करते हैं, स्तोत्र, कवचादि का पाठ निर्विघ्न अखंड चलता है और अग्निहोत्र भी होता है। उनकी निष्ठायुक्त साधना से प्रसन्न होकर देवी के प्रकट होने और गुरु जी को मलेच्छ विनाश आदि का वरदान देने का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। देवी के प्रकट होने से पहले अनु

पिशाच-गण आदि नृत्य करते दिखाई देते हैं फिर काकपुत्र की विकराल ध्वनि सुनाई देती है। पवन प्रचंड गति से चलने लगती है। घनघोर घटा छा जाती है। समुद्र, पर्वत, धरती, आकाश, थर्राने लगते हैं और फिर देवी के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। (१०।१४६) गुरु जी उसके दाहिने हाथ की कृपाण और म्लेच्छों के विनाश का वर मांगते हैं।

"गुरुविलास' में स्थान-स्थान पर भगवती काली को गुरुगोबिन्दसिंह की सहायता करते भी दिखाया गया है। कभी वह तोप के रूप में शत्रु सेना का नाश करती है, कभी शत्रुओं द्वारा प्रेरित मस्त गज का महिषासुर के समान मर्दन करती है और कभी धर्मयुद्ध से भागे हुए भगोड़ों को दण्डित करती है। यही नहीं यहां गुरु जी को धूप दीप, नैवेद्य लेकर देवी की पूजा करते हुए और उसका चरणामृत ग्रहण करते हुए भी दिखाया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खालसा की विशिष्टता का प्रतिपादन करते हुए भी (१२।१३७, १२ १८४) सुक्खासिंह ने हिन्दू संस्कृति तथा हिन्दू पुराणवाद में अपनी आस्था प्रकट की है तथा वैष्णवों एवं शाक्तों के प्रभाव को उदारता से आत्मसात किया है। सिक्खमत को उसने वृहद् हिन्दू संस्कृति के एक अभिन्न अंग के रूप में स्वीकारा है। उसमें सिक्ख संस्कृति नाम की किसी अलग संस्कृति का संकेत तक नहीं किया। यही कारण है कि हिन्दू-धर्म के कुछ ऐसे तत्त्वों को भी उसने स्वीकार कर लिया है, जिनका सिक्खमत में स्पष्ट निषेध किया गया है। हिन्दुओं की अनेक ऐसी साधना पद्धतियों, पूजा विधियों, संस्कारों में उसने विश्वास प्रकट किया है, जिनका सिक्ख गुरुओं ने खुला विरोध किया था। देवी पूजा के प्रसंग को पंथ-स्थापना के साथ जोड़ना इस समन्वय का ही परिचायक है (८।२७)। कवि का कथन है कि "खालसा" के पैदा होने के लिए माता पिता दोनों की प्रसन्नता की आवश्यकता है (१०।४६ ४८) खड्गकेतु उनका पिता है और देवी माता को वे इसलिए ध्या रहे हैं क्योंकि पिता माता बिना पुत्र (खालसा) निन्दित होता है। यह आवश्यक नहीं कि इस प्रसंग को इस तथ्य के प्रमाण रूप में स्वीकार कर लिया जाए कि गुरु जी ने वाकई देवी की आराधना की थी। इन प्रसंगों से गुरु जी का चरित्र भी दूषित नहीं होता, वरन यहां कवि की निजी समन्वय भावना का ही प्रसार है। और ऐसा कवि ने युग परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए किया है।

वस्तुत 'गुरुविलास' वीररस प्रधान एक ऐसा कथात्मक प्रबन्धकाव्य है जिसका ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्व तो है ही, यह एक श्रेष्ठ काव्य-कृति भी है। रीतिकालीन शृंगारिकता एवं आलंकारिकता के संदर्भ में युग-चेतना से युक्त इस प्रकार की रचनाएं विशेष महत्व रखती हैं और इन से हमें उस युग की काव्य प्रवृत्तियों का पुनर्मूल्यांकन करने में अधिक सहायता मिलेगी।

सौन्दर्य का तात्त्विक स्वरूप

प्रेमकान्त टण्डन

देश विदेश के अनेक विचारकों ने सौन्दर्य के स्वरूप-निर्धारण एवं विश्लेषण के सम्बन्ध में अनेक प्रयत्न किये हैं। विषय की जटिलता और दुरूहता के कारण विश्लेषण-विवेचन के क्रम में प्रायः चर्चा की दिशा बदल जाया करती है, भाषा भटक जाती है और विवेचन सौन्दर्य के स्वरूप-विश्लेषण के स्थान पर उसके अधिष्ठान निर्णय की ओर मुड़ जाता है अथवा 'जो सुखद है वह सुन्दर है,' 'जो उपयोगी है वह सुन्दर है'—इस प्रकार की सामान्य अवधारणाओं पर आकर रुक जाता है। प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य सौन्दर्य विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं की प्रामाणिकता एवं उनके औचित्य की पड़ताल करना और सौन्दर्य के तात्त्विक स्वरूप के निर्धारण की दिशा में प्रयास करना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस क्रम में रचना-प्रक्रिया, कलाकृति और आस्वाद—इन तीनों की चर्चा अनिवार्य हो जाती है।

(१) सौन्दर्य विषयक प्राचीनतम अवधारणा सौन्दर्य को सुख के साथ जोड़ती है। इस वर्ग के विचारकों का मत है कि जो कुछ सुखद और अनुकूल वेदनीय है वह सुन्दर है। इनका निष्कर्ष-वाक्य 'द ब्यूटीफुल इज़ दैट व्हिच प्लीजेज़' है।

यह अवधारणा काफ़ी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सौन्दर्य विषयक अन्य कई अवधारणाएं इससे जुड़ी हुई हैं। इस सम्बन्ध में सबसे पहला प्रश्न यह है कि 'सुख' से इन विचारकों का तात्पर्य क्या है? इनके द्वारा किये गए सुख प्राप्ति की प्रक्रिया के विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि 'सुख' से इनका तात्पर्य सामान्य लौकिक, ऐन्द्रिक सुख से है, आनन्द से नहीं। आनन्द से हमारा तात्पर्य आनन्द की भारतीय परिकल्पना से नहीं है, क्योंकि भारतीय मनीषा ने अपने सौन्दर्य विषयक विवेचन-क्रम में आनन्द को ब्रह्म का पर्याय भी स्वीकृत किया है। हमारा तात्पर्य यहां 'हैपीनेस' से है। इन विचारकों के विवेचन के अनुसार सुख किसी इच्छा की तृप्ति अथवा भूख की तुष्टि पर निर्भर है। जिस वस्तु या पदार्थ से किसी इच्छा की तृप्ति या भूख की तुष्टि होती है वह सुन्दर है।[1] किसी व्यक्ति को मोटर की इच्छा है, उसे मोटर मिल जाती है और उसकी इच्छा तृप्त हो जाती है उसे सुख मिलता है और इसलिए उसे मोटर

---

१ 'व्हाट प्रासेस हैज़ काज्ड दिस प्लेज़र? . . श्योरली वन थिंग कैन काज़ प्लेज़र आर इकीज़ इट, नेम्ली द ग्रेटिफिकेशन आफ़ ए डिज़ायर ही वान्टेड समथिंग ही हैड ए हंगर एण्ड हिज़ हंगर हैज़ बीन सटिस्फाइड"।

—एरिक न्यूटन

द मीनिंग आफ ब्यूटी, पृ० २६

सुन्दर लगती है। किसी व्यक्ति को भूख सता रही है, उसे भोजन मिल जाता है, उसकी भूख तुष्ट हो जाती है, इसलिए भोजन उसके लिए सुखद और सुन्दर है।

यदि सौन्दर्य इस प्रकार 'भूख की तुष्टि' या 'इच्छा की तृप्ति' पर निर्भर है तो यह तो और भी बहुत-सी वस्तुओं से संभव है जैसे रोटी जो हमारी सबसे महत्त्वपूर्ण भूख को शांत करती है और निश्चय ही उससे सुख भी मिलता है। परन्तु क्या रोटी को सुन्दर कहा जा सकता है? कदाचित् इन विचारकों के अनुसार कहा जा सकता है। और यदि एक बार यह निश्चित हो गया कि सुखद वस्तु अवश्य ही सुन्दर होती है, फिर तो ऐसी असंख्य वस्तुएँ हैं जो सुन्दर पदार्थों की सूची में तत्काल जुड़ जायँगी, जैसे चाय, काफी, सिगरेट, पान, मदिरा आदि क्योंकि ये सभी किसी न किसी इच्छा या भूख को ही तो शांत करती हैं।

प्रश्न है कि क्या सुखद वस्तु अनिवार्यत सुन्दर होती है? उदाहरण के लिए, विपन्न कृषक की टूटी-फूटी झोंपड़ी उसके लिए निश्चय ही सुखद और अनुकूलवेदनीय है, परन्तु क्या इसी कारण उस झोंपड़ी को सुन्दर भी कहा जा सकता है? प्रचंड लू में तपती हुई सड़क पर ठेला खींचते हुए मजदूर के पैरों में लिपटा हुआ टाट का टुकड़ा उसके लिए निश्चय ही सुखद है, परन्तु क्या वह सुन्दर भी है? —स्पष्ट ही ऐसा नहीं है। अत सुखद को सुन्दर से अनिवार्यत नहीं जोड़ा जा सकता।

वस्तुत यह अवधारणा एक भ्रम पर आधरित है जिसकी ओर विलियम नाइट ने भी संकेत किया है (द फिलासफ़ी ऑफ़ द ब्यूटीफुल, पृ० ३५-३६) कि प्रत्येक वस्तु जो सुखद है अनिवार्यत सुन्दर भी होती है। जब कि तथ्य यह है कि अनेक सुखद वस्तुएँ सुन्दर भी होती हैं, प्रत्येक सुखद वस्तु सुन्दर नहीं होती।

इस अवधारणा के सम्बन्ध में एक-दो बातें और विचारणीय हैं। कल्पना कीजिये कि प्रत्येक सुखद वस्तु सुन्दर है। परन्तु क्या प्रत्येक सुखद वस्तु हरएक के लिए सुन्दर होती है? —जिस वस्तु से हमारी कोई इच्छा तृप्त हुई है क्या उसी वस्तु से प्रत्येक व्यक्ति की उसी प्रकार की इच्छा तृप्त होगी? इसका उत्तर सकारात्मक नहीं हो सकता, क्यों कि 'चाह' या 'इच्छा' सयोगमात्र नहीं होती, उसका निर्धारण आदत और अभ्यास की एक पूरी परम्परा से होता है। आदत और अभ्यास भी स्वय में निरपेक्ष नहीं होते, वे वातावरण और साहचर्य पर निर्भर करते हैं। संभव है कि दो भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रकार का वातावरण और साहचर्य प्राप्त हुआ हो जिसके फलस्वरूप जो वस्तु एक की चाह को तुष्ट करती हो, वह दूसरे की चाह को तुष्ट न कर सके। यह भी संभव है कि वातावरण में परिवर्तन अथवा

साहचर्य के आयाम में विस्तार होने पर जो वस्तु आज किसी को सुखद नहीं लग रही है, कल सुखद लगने लगे। इसके अतिरिक्त, साहचर्य भी स्वयं में निरपेक्ष नहीं है, वह स्मृति पर निर्भर है। संभव है कि हमें अतीत में किसी घटना, प्रसंग, वस्तु या व्यक्ति का साहचर्य प्राप्त हुआ हो परन्तु आज विस्मृति की अँधेरी पर्तों के नीचे दब गया हो। यदि हमें अपनी स्मरण-शक्ति पर पूरा भरोसा है भी तो क्या? —हमारा सौन्दर्यबोध अधिक से अधिक हमारी अपनी साहचर्य सीमा तक ही तो विस्तृत हो सकता है। और, ऐसी स्थिति में, संभव है कि कोई वस्तु जो निरपेक्षतः सुन्दर है, हमारी साहचर्य-सीमा में समाविष्ट न होने के कारण हमें सुखद और सुन्दर न लग सके। अतएव यह कहना उचित नहीं है कि प्रत्येक सुखद वस्तु सुन्दर है अपितु यह कहना उचित है कि जो वस्तु हमारे लिए सुखद है वह सुन्दर है। परन्तु तब क्या सौन्दर्य साधन मात्र है? क्या वह वस्तुत लौकिक तुष्टि पर ही निर्भर है? ये प्रश्न हैं जिनके सम्बन्ध में आगे यथास्थान चर्चा करेंगे।

(२) दूसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा यह है कि सौन्दर्य व्यवस्था, सन्तुलन आदि कतिपय वस्तुगत गुणों में निहित है। यह अवधारणा भी काफ़ी पुरानी है। इस वर्ग के विचारकों ने इस प्रकार के सौन्दर्यविधायक वस्तु-गुणों की संख्या कुल छह मानी है: (१) समतुल्यता (सिमेट्री), (२) संगति (हारमनी), (३) ताल (रिद्म), (४) सन्तुलन (बैलेंस), (५) अनुपात (प्रपोर्शन) और (६) एकता (यूनिटी)। लेकिन ये गुण और भी बहुत से हो सकते हैं, जैसे, मसृणता, ऋजुता, तरलता, वक्रता, कोमलता, वर्ण-दीप्ति, कांति आदि। क्लाइव बेल के अनुसार इन गुणों के रहस्यमय एवं अज्ञात मेल के नियमों से सौन्दर्य का विधान होता है।२

व्यावहारिक रूप में यह अवधारणा तर्कसंगत प्रतीत होती है। रूपवादी विचारक सौन्दर्य विषयक किसी भी प्रकार के विवेचन के लिए सिद्ध कलाकृति को अपने विवेचन का एकमात्र आधार मानते हैं। उदाहरण के लिए, उद्यान में स्थापित 'सरदार पटेल की प्रतिमा सुन्दर है' —यह कहने का क्या तात्पर्य है? वस्तुवादियों के अनुसार इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य मूर्ति में निहित है। कदाचित् वे इसका विश्लेषण इस प्रकार करेंगे मूर्त उपादान सामग्री के रूप में मूर्ति में केवल प्रस्तर-खंड हैं, दुग्ध-धवल और चमकीले, और इन प्रस्तर-खंडों को एक विशेष रूपाकार में संयोजित कर दिया गया है। इससे दो तत्त्व प्राप्त होते हैं: दुग्ध-धवल प्रस्तर खंड और रूपाकृति में संयोजन, और सौन्दर्य इन्हीं दो में निहित है।

२, व्हाट इज़ आर्ट, पृ० ११

रूपाकृति में संयोजन क्या है ? —यह और कुछ नहीं बल्कि प्रस्तर-खंडों को काट-छाँट कर अनुपात, सन्तुलन, व्यवस्था आदि दृष्टियों से उनका एक विशिष्ट रूपाकृति में नियोजन है। दूसरे शब्दों में, इसका तात्पर्य है वस्तुतत्त्वों के अज्ञात और रहस्यमय मेल के नियमों के अनुसार एक रूपाकृति का निर्माण। इसलिए, किसी भी उपादान सामग्री को व्यवस्थित, सन्तुलित, समानुपातिक रूप में संयोजित कर देने पर जो रूपाकार हमारे समक्ष उपस्थित होता है वह सुन्दर कहलाता है।

इस अवधारणा को स्वीकार करने में कई कठिनाइयाँ हैं। एक तो यह कि उपादान सामग्री के मेल, व्यवस्थापन आदि के नियम क्या हैं, कौन सी वस्तु किस ढंग से किस रूप में व्यवस्थित की जाय, इसके स्वरूप और उसकी प्रक्रिया को इस वर्ग के विचारक 'अज्ञात' और 'रहस्यमय' कहकर छोड़ देते हैं, और वास्तव में वही मुख्य है। उपादान सामग्री स्वय में अनेक रूपों में हो सकती है, जिनमें से कुछ कुरूप और घृणित भी हो सकते हैं, मुख्य तो इनका संयोजन है, जिससे वे रूप या वह सामग्री जीवन्त और सुन्दर हो उठती है। परन्तु ये विचारक संयोजन के कोई निश्चित नियम नहीं बताते। यदि किसी विशिष्ट वस्तु के संदर्भ में संयोजन के कुछ निश्चित नियमों का विधान कर भी दिया जाय तो क्या वे नियम सभी प्रकार की उपादान सामग्री पर समान रूप से लागू हो सकते हैं ? स्पष्ट ही ऐसा नहीं हो सकता। दूसरी कठिनाई यह है कि कभी-कभी अव्यवस्था, असतुलन, असंगति आदि तत्त्व भी सौन्दर्य के विधायक होते हैं। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आज की विषम परिस्थितियों को रूपायित करनेवाला आधुनिक कला आन्दोलन इस तथ्य का प्रमाण है। तीसरी यह कि यदि सौन्दर्य को वस्तुगत गुणों में निहित मान लिया जाय, तो सुन्दर वस्तु को देखकर सभी को समान रूप से प्रभावित होना चाहिए, जब कि तथ्य यह नहीं है, 'टु यू इट इज ए रोज, टु मी इट इज माइ हार्ट'। और अब यह दृष्टान्त है, और महत्त्वपूर्ण है, कि चर्चा की दृष्टि सौन्दर्य के स्वरूप विश्लेषण से हटकर उसके अधिष्ठान-निर्णय की ओर मुड़ जाती है। सौन्दर्य विधायक वस्तु गुणों के विशिष्ट सयोजन से जो सौन्दर्य रूप निर्मित होता है उसका स्वरूप क्या है, सयोजन की प्रकृति और उसका स्वरूप क्या है, उपादान सामग्री में ऐसी कौन सी वस्तु प्रविष्ट हो जाती है जो उसे सुन्दर कहलाने का अधिकारी बना देती है —इसका विवेचन छूट जाता है और निर्धारण इस बात का होने लगता है कि सौन्दर्य वस्तुगत है या आत्मगत ! यह इस अवधारणा की सीमा है। इस में सत्य का अंश इतना ही है कि कुछ वस्तुगत गुणों में सौन्दर्य का विधान करने की क्षमता होती है, यद्यपि वे गुण स्वयं में निरपेक्ष नहीं होते।

(३) तीसरी महत्त्वपूर्ण अवधारणा सौन्दर्य को उपयोगिता में निहित मानती है। इस वर्ग के विचारकों का मत है कि जो वस्तु उपयोगी है वह सुन्दर है। पहली की भाँति यह अवधारणा भी एक भ्रम पर आधारित है कि प्रत्येक उपयोगी वस्तु सुन्दर होती है, जबकि तथ्य यह है कि अनेक उपयोगी वस्तुएँ सुन्दर भी होती हैं, प्रत्येक वस्तु नहीं। यह भ्रामक धारणा बनती कैसे है? वास्तव में होता यह है कि किसी सुन्दर वस्तु को देखते समय हमारा मन अपनी सहज चंचलतावश असलक्ष्यक्रम रीति से वस्तु के उपयोगी पक्ष की ओर मुड़ जाता है और हम सौन्दर्य के भाव के साथ वस्तु की उपयोगिता का भी कल्पनात्मक अनुभव करने लगते हैं। मूलतः वस्तु निरपेक्षतः ही सुन्दर लगती है परन्तु उपयोगिता बोध इतना प्रधान हो जाता है कि हम सौन्दर्य बोध को इसके उपयोगिता बोध से पृथक कर ही नहीं पाते और भ्रमवश वस्तु की उपयोगिता के कारण ही इसे सुन्दर समझने लगते हैं।

उदाहरण के लिए, हमारी दृष्टि बहुत दूर उस पहाड़ी पर खड़े एक लम्बे देवदारु पर पड़ रही है। देवदारु सुन्दर प्रतीत हो रहा है। यद्यपि देवदारु के सुन्दर प्रतीत होने में उसके आसपास का समस्त दृष्टिगत वातावरण समग्र रूप से योगदान दे रहा है अर्थात् देवदारु को देखकर जो सौन्दर्य बोध हमें हो रहा है वह एकमात्र, एकाकी, देवदारु के सौन्दर्य का बोध नहीं है बल्कि देवदारु सहित वहाँ का समस्त दृश्यमान भूखंड और वातावरण एक इकाई के रूप में अज्ञात रूप से हमारी चेतना पर प्रतिबिम्बित होकर हमारे सौन्दर्य बोध का आलम्बन बनता है। वातावरण में और भी अनेक वस्तुएँ हैं, जैसे कि अंशुमाली की किरणों से ज्योतित आसपास की लालिमायुक्त हिमाच्छादित शैलमालाएँ, देवदारु के ठीक पीछे हर क्षण मिटती हुई रजत पर्वत श्रेणियाँ, उनसे क्षण-क्षण प्रस्फुटित होते हुए धूमिल वाष्पगुच्छ आदि। परन्तु जैसा हमने ऊपर कहा है, हमें इन अन्य वस्तुओं का आभास नहीं रहता, हमारी दृष्टि चेतन रूप से केवल देवदारु पर ही टिकी रहती है। इस प्रसंग में गेस्टाल्ट की चर्चा की जा सकती है, पर हम अभी नहीं करेंगे। सहसा हमारी चेतना का केन्द्र अनायास ही परिवर्तित हो जाता है और उस विशाल देवदारु से प्राप्य लकड़ी, उस लकड़ी की मज़बूती, इससे बननेवाले विविध उपकरण, दुर्द्धर्ष झकोरों में पर्वतारोही दल के खेमे की रस्सी बाँधने के लिए उसके तने की उपयुक्तता आदि अनेक बातें हमारी चेतना से टकरा कर उसे प्रभावित करने लगती हैं। परिणामस्वरूप हमें देवदारु के निरपेक्ष सौन्दर्य का बोध नहीं हो पाता, उसका सौन्दर्य उसके उपयोगिता बोध के साथ घुलमिल कर हमको प्रभावित करता है और हम भ्रमवश इसी संश्लिष्ट सौन्दर्य बोध को केवल उपयोगिता बोध समझकर उपयोगिता को ही उसके सौन्दर्य का कारण मानने लगते हैं।

यदि उपयोगिता ही सौन्दर्य का विधायक तत्त्व है, तब तो जो वस्तु जितनी अधिक उपयोगी हो वह इतनी ही अधिक सुन्दर कही जानी चाहिये। और ऐसी स्थिति में रेलगाड़ी, उसका इंजन, पुल, टेलीफोन के तार एवं खम्भे आदि वस्तुएं देवदारु के वृक्ष, पटेल की प्रतिमा आर्टगैलरियों के बहुमूल्य चित्र आदि सभी से कहीं अधिक सुन्दर होनी चाहिये और सुन्दर प्रतीत होनी चाहिये क्योंकि वे सभी वस्तुएँ कहीं अधिक उपयोगी हैं। परन्तु क्या यह मान्य हो सकता है ? (४) सौन्दर्य विषयक चौथी अवधारणा व्यक्ति की कामेच्छा अथवा रमणेच्छा से सम्बद्ध है। इस वर्ग के विचारकों का मत है कि जो वस्तु व्यक्ति की रमणेच्छा अथवा कामेच्छा जाग्रत करे वह सुन्दर है। इस प्रकार की अवधारणा प्रस्तुत करने वाले विचारक भारतीय भी हैं और पाश्चात्य भी। डी० एच० लारेंस नामक एक पाश्चात्य विचारक तो 'सेक्स' और 'सौन्दर्य' को पर्याय मानते हैं।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित मत विचारणीय हैं —

(१) वस्तुतः रूप का वास्तविक मापक है उसकी वीर्य विक्षोभन शक्ति। अभिनवगुप्त का कथन है कि हमारी आंखों को रमणीय लगने वाला रूप वीर्य विक्षोभन सुख का प्रतीक है। नयनयोरपि हि रूप तद् वीर्य विक्षोभात्मक महाविसर्ग—विश्लेषण युक्ता एव सुखदापि भवति।

—अभिनवगुप्त, परात्रिंशिका, पृ० ४७-४८

(रीतिकालीन कवियों की प्रेमव्यंजना, बच्चनसिंह से उद्धृत)

(२) स्त्री और पुरुष के रूप में मिथुनीभूत सृष्टि सन्तति के रूप में अपने आपको जीवित रखने के लिए व्याकुल भावसे एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं और उनमें एक दूसरे के प्रति रमणेच्छा जागृत होती है यही रमणेच्छा रिरसा वृत्ति है। सुन्दर वह वस्तु है जो रिरसा वृत्ति का आलंबन हो सके या उद्दीपन बन सके।

—ह० प्र० द्विवेदी 'सौन्दर्य और लालित्य'

परिशोध, अंक—७

(३) आंखों को प्रीतिकर लगनेवाला वह कौन सा तत्त्व है जिसे हम साधारणतया सौन्दर्य कहा करते हैं। ··मनुष्यके भीतर जो प्रेमतत्त्व है वही वस्तुओं को सुन्दर या असुन्दर बनाने का हेतु है। जैविक धरातल पर यह प्रेमतत्त्व वस्तुतः कामतत्त्व है। हमें वही चीजें सुन्दर लगती हैं जो हमारी इन्द्रियों को काम-सुख के लिए प्रेरणा, उत्तेजना या बढ़ावा देती हैं।

—वही

(४) विल ड्यूराँ का कथन है कि यौन-भावना की दृष्टि से आकांक्षित वस्तु ही प्राथमिक रूप से सुन्दर है। यदि इससे इतर कोई वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है तो उसे किसी न किसी प्रकार से यौन भावना से सम्बद्ध समझना चाहिये।

—जे० बी० एच० यू०, सिल्वर जुबिली नम्बर, पृ० ५७

(रीतिकालीन कवियों की प्रेम व्यंजना, बच्चनसिंह, पृ० १३४ से उद्धृत)

(५) द होल सेन्टिमेण्टल साइड आफ अवर ऐस्थेटिक सेन्टीमेन्टैलिटी विदाउट व्हिच इट वुड बी पर्सेप्चर एण्ड मैथेमेटिकल् रादर दैन एस्थेटिक—इज़ ड्यु टु अवर सेक्सुअल आर्गेनाइजेशन रिमोटेली स्टर्ड

—जार्ज सान्तायन

सैन्स आफ ब्यूटी, पृ० ५९

(६) सेक्स एण्ड ब्यूटी आर वन थिंग लाइक फ्लेम एण्ड फायर,
सेक्स इज द रूट ब्यूटी द फ्लावर

—डी० एच० लारेंस

उपर्युक्त वक्तव्यों में प्रयुक्त 'वीर्य विक्षोभन सुख', 'रमणेच्छा या रिरसा वृत्ति', 'काम-सुख', 'यौन भावना', 'सेक्सुअल आर्गनाइजेशन', आदि पदों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये विचारक सौन्दर्य को किसी न किसी रूप में 'काम तुष्टि' से जोड़ रहे हैं। अर्थात् इनकी दृष्टि में वही वस्तु सुन्दर है जो किसी न किसी प्रकार से हमारी कामेच्छा को तुष्ट करती है।

इस अवधारणा के औचित्य का विवेचन करने से पूर्व यह द्रष्टव्य है कि इसके संभावित सूत्र क्या हैं? हमारी समझ में यह अवधारणा दो सूत्रों पर आधारित है (१) संस्कृत के प्रामाणिक कोशों में 'सुन्दर' कामदेव का एक नाम बताया गया है।३ भारतीय मिथक-परम्परा में कामदेव आरम्भ से स्त्री पुरुषों के हृदय में रमणेच्छा, कामेच्छा, यौवनोल्लास आदि जागृत अथवा उद्दीप्त करने वाले वर्णित किये गए हैं। यह कामदेव में सदा से ही आदर्श सौन्दर्य, मनोहरत्व, आकर्षण आदि तत्त्वों का समावेश करती आयी है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में इस परिकल्पना में विकास हुआ और व्यक्ति में रमणेच्छा और कामेच्छा जागृत करने वाली

३. (क) शब्दस्तोम महानिधि, पृ० १२६२
(ख) शब्दकल्पद्रुम, भाग ५, पृ० ३७३
(ग) संस्कृत-अंग्रेजी कोश, वी० एस० आप्टे, पृ० ६०८

प्रत्येक वस्तु सुन्दर कही जाने लगी। और फिर इससे यह अवधारणा विकसित हुई कि सुन्दर वही है जो कामेच्छा जागृत करती है। (२) फ्रायड का मनोविश्लेषण। फ्रायड के मतानुसार मन के दो स्तर हैं : चेतन और अचेतन। चेतन संक्षिप्त है और अचेतन विशाल। मनुष्य में कुछ दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं प्रकृत वृत्तियां (इड) और अवदमित वृत्तियां। सामाजिक मर्यादाओं के कारण शिशु और प्रौढ़ व्यक्ति की बहुत सी इच्छा वासनाए अपूर्ण, अतृप्त रह जाती हैं। इसमें से अधिकांश प्राय 'सेक्स' या 'काम' से सम्बन्धित होती हैं। ये अपूर्ण रह जाने वाली इच्छा-वासनाएं मानव के अचेतन मन में चली जाती हैं। इनकी सामूहिक संज्ञा, फ्रायड के अनुसार, 'लिबिडो' है। लिबिडो कामशक्ति का एक अक्षय पुज है और मानव के समस्त क्रिया व्यापारों का प्रेरक-स्रोत है। इसलिए मानव-जीवन में काम-शक्ति सर्वोपरि है, उसके समस्त क्रिया व्यापारों का सचालन इसी काम शक्ति के द्वारा होता है। फ्रायड के मतानुसार सौन्दर्य-भावन एव सौन्दर्य-सृजन के द्विविध व्यापार का सम्बध लिबिडो से ही है। मानव की अवदमित कामेच्छाए ही प्रकारान्तर से, इनके माध्यम से, उदात्तीकृत होकर व्यक्त होती हैं। अत सुन्दर वही वस्तु है जो हमारी कामेच्छा को जागृत अथवा उद्दीप्त करने का उचित और अनुकूल आलंबन बनती है। दूसरे शब्दों में, सुन्दर वह है जिससे हमारी कामेच्छा की पूर्ति होती है।

फ्रायड के मत की विस्तृत व्याख्या अथवा उसकी शक्ति और सीमा का लेखा-जोखा प्रस्तुत करना यहां हमारा प्रयोजन नहीं है। हमने विवेच्य अवधारणा के केवल एक सभावित सूत्र के प्रति संकेत करने के निमित्त सक्षेप में फ्रायड के मत का हवाला दिया है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि फ्रायड का 'लिबिडो' शाब्दिक अर्थ में 'सेक्स' नहीं है, 'लिबिडो' या 'काम' अर्थ के बहुत व्यापक आयामों को समाविष्ट करता है उसमें व्यक्ति की समस्त रागात्मक वृत्तियों का समावेश है। युग ने एक स्थान पर फ्रायडियन 'लिबिडो' की तुलना औपनिषदिक 'ब्रह्म' से की है। इसके अतिरिक्त, युग और एडलर ने लिबिडो को 'कामेच्छा प्रधान मोटिवेटिंग फोर्स' न मानकर उसे क्रमशः 'विल टु पावर' और 'विल टु लिव' के रूप में व्याख्यायित किया है।

इस अवधारणा को स्वीकार करने में भी कई कठिनाइयां हैं। यह सही है कि बहुत सी वस्तुए हमें केवल इसीलिए सुन्दर लगती हैं क्योंकि वे किसी न किसी स्तर पर और किसी न किसी रूप में हमारी कामेच्छा का आलंबन बनकर ही हमारे मानस को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिए, कोई स्त्री हमें सुन्दर लग रही है। हम यदि तटस्थ होकर अपनी तद्विषयक तात्कालिक अनुभूति का विश्लेषण करे तो बहुत सभव है कि हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि

हमारे लिए उसके सौन्दर्य का एकमात्र कारण हमारे अवचेतन की गहराइयों में उसका हमारी कामेच्छा से ही सम्बद्ध होता है। पर चेतन रूप में हम अपनी इस प्रकार की मानसिक स्थिति से अवगत नहीं रहते। परन्तु क्या इसका यह तात्पर्य है कि हमारी कामेच्छा से नितान्त स्वतंत्र रहकर कोई स्त्री हमें कभी सुन्दर लग ही नहीं सकती? वास्तव में, उपर्युक्त प्रसंग में हम सुन्दर का अर्थ उपयोगी कर लेते हैं, क्योंकि स्त्री हमें हमारी कामेच्छा की पूर्ति के लिए उपयोगी होने के कारण ही हमें सुन्दर लगी है। और फिर वही सनातन प्रश्न, कि क्या सौन्दर्य केवल उपयोगिता में ही निहित है, क्या वह साधन मात्र है?

जीव-सृष्टि से इतर भी बहुत से पदार्थ ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में हमारी कामेच्छा से सम्बंधित होने के कारण हमें सुन्दर लगा करते हैं, परन्तु हमें इसका बोध नहीं होता, उनके सौन्दर्य के वास्तविक कारण से हम अभिज्ञ (प्रत्यक्षतः) नहीं रहते। उदाहरण के लिए, प्रकृति का समस्त सौन्दर्य हमारी कामेच्छा से जुड़ा हुआ है, पर चेतन रूप में हमें इसका बोध नहीं रहता। सान्तायन ने इसीलिए 'सेक्सुअल आर्गनाइज़ेशन रिमोटली स्टर्ड' शब्दों का प्रयोग किया है। इसमें 'रिमोट्ली' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। परन्तु जगत् में बहुत सी ऐसी वस्तुएँ भी हैं जिनका हमारी कामेच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे कि हमारी मेज़ पर रक्खा हुआ टेबुल-लैम्प, जो हमें निश्चय ही सुन्दर लग रहा है, सामने शेल्फ़ पर तरतीबवार लगी हुई पुस्तकें, हमारे अध्ययन कक्ष की हल्के गुलाबी रंग की दीवारें,—और ये सब मिलकर हमारे अध्ययन कक्ष को निश्चय ही सुन्दर बना रही हैं। परन्तु क्या कक्ष के सौन्दर्य का सम्बन्ध हमारी कामेच्छा से है? हम इसका सकारात्मक उत्तर देने के पक्ष में नहीं हैं।

इसलिए यह कहना उचित नहीं जान पड़ता कि जो वस्तु हमारी कामेच्छा को उद्बुद्ध अथवा उद्दीप्त करे वही सुन्दर है। इस मत को स्वीकार करने पर भी वही सनातन प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या सौन्दर्य साधन मात्र है, क्या वह एक लौकिक, ऐन्द्रिक, सुखानुभूति मात्र है?

सौन्दर्य विषयक उपर्युक्त प्रमुख अवधारणाओं के अतिरिक्त कुछ और अवधारणाएँ भी हैं जिनका पृथक उल्लेख हम इस कारण नहीं कर रहे हैं कि वे या तो उपर्युक्त अवधारणाओं से किसी न किसी रूप में समाविष्ट की जा चुकी हैं या हमारे आगामी विवेचन में समाविष्ट हो जायँगी, या फिर वे सर्वथा अनुल्लेख्य हैं। इतना स्पष्ट है कि उपर्युक्त अवधारणाएँ सौन्दर्य का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत कर सकने में नितान्त असमर्थ हैं।

अतः प्रश्न है कि सौन्दर्य है क्या? उसकी प्रकृति और उसका स्वरूप क्या है?

किसी भी कलाकृति का सौन्दर्यतात्त्विक मूल्यांकन मुख्यतः तीन दृष्टियों से किया जा सकता है : (१) कलाकृति की दृष्टि से (२) सहृदय की अनुभूति की दृष्टि से, और (३) कलाकार की अनुभूति की दृष्टि से। व्यावहारिक रूप में सिद्ध कलाकृति को आधार मानकर विवेचन का प्रारम्भ करना कई दृष्टियों से सरल है, यद्यपि अपने विकास-क्रम में वह विवेचन अनिवार्यतः कलाकार और सहृदय-पक्ष की ओर मुड़ जाता है, और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, सौन्दर्य का वृत्त वास्तव में कलाकार कलाकृति-भावक—इन तीनों को लेकर ही पूरा होता है।

किसी कलागृह के उद्यान में स्थापित किसी स्त्री की प्रस्तर प्रतिमा को देखिये। प्रतिमा सुन्दर है। प्रश्न है कि उस में ऐसा क्या तत्त्व है जिसके कारण वह सुन्दर प्रतीत हो रही है? रूपवादियों का उत्तर इस सम्बन्ध में सीधा और स्पष्ट है कि वस्तु से पृथक सौन्दर्य की सत्ता नहीं हो सकती, उसका सम्बन्ध प्रतिमा के आकृति-विधान से है। रंग-रेखा, व्यवस्था-सन्तुलन आदि दृष्टियों से उपादान सामग्री के एक 'विशिष्ट विन्यास' से सौन्दर्य का जन्म होता है।

लेकिन यहाँ कई समस्याएँ खड़ी हो जाती हैं। एक तो यह, जिसकी ओर हमने पहले भी संकेत किया है, कि अव्यवस्था, असन्तुलन आदि तत्त्वों से भी सौन्दर्य का विधान संभव है। यहाँ इस समस्या का निराकरण यह कह कर किया जा सकता है कि सौन्दर्य विधायक अव्यवस्थित, असन्तुलित उपादान सामग्री भी एक विशिष्ट रूप में विन्यस्त होने के कारण ही सौन्दर्य विधान कर पाती है। इसलिये मुख्य तत्त्व है विशिष्ट विन्यास, न कि अव्यवस्था या व्यवस्था। अतएव दूसरी समस्या यह है, कि विशिष्ट विन्यास से क्या तात्पर्य है, उसका स्वरूप और उसकी प्रकृति क्या है? यदि हम 'विशिष्ट विन्यास' विषयक इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर खोज निकाले तो कदाचित् हम सौन्दर्य के तात्त्विक स्वरूप के अनुसंधान में सफल हो सकते हैं। पर कठिनाई यह है कि जो वस्तुएँ हमें असुन्दर प्रतीत होती हैं उनमें भी तो कोई न कोई 'विशिष्ट-विन्यास' रहता है, किसी न किसी विशिष्ट विन्यास के कारण ही तो वे असुन्दर प्रतीत होती हैं। इसलिए तीसरी समस्या यह है कि हमें उस 'विशिष्ट विन्यास' का स्वरूप निर्धारण करना है जिसके कारण वस्तुएँ सुन्दर प्रतीत होती हैं। रूपवादियों के मतानुसार इतना तो तय ही है कि सौन्दर्य वस्तु से पृथक नहीं है, इसलिए 'विशिष्ट विन्यास' के स्वरूप-निर्धारण के लिए पुनः एक बार प्रतिमा की ओर ही चलना होगा।

पटेल की प्रतिमा की भाँति इस प्रतिमा में भी उपादान सामग्री के रूप में केवल प्रस्तर

खंड हैं, शुभ्र-धवल और चमकीले, जो एक विशिष्ट रूपाकृति में विन्यस्त हैं। कल्पना कीजिए कि रमणी की यह प्रतिमा हथौड़े मार मार कर खंडित कर दी गयी है और उसके शुभ्र धवल प्रस्तर खंड राशिभूत होकर भूमि पर बिखर गए हैं। भूमि पर बिखरे हुए राशिभूत प्रस्तर चूर्ण और प्रतिमा रूप प्रस्तर खंडों में क्या कोई अंतर है? कोई अंतर नहीं है, तत्त्वतः दोनों एक ही प्रस्तर खंड के दो रूप हैं।

लेकिन अंतर तो है ही, और वह यह है कि एक विशिष्ट-विन्यास से युक्त था और दूसरा इस से रहित है, अर्थात् भूमिगत प्रस्तर खंड अब उस विशिष्ट विन्यास से विरहित हो गए हैं जिसके कारण वे अभी तक मूर्ति रूप में थे और सुन्दर लग रहे थे। दूसरे शब्दों में, मूर्ति की मूर्तिवत्ता विनष्ट हो गयी है। परन्तु यह मूर्तिवत्ता क्या है? —यह उपादान सामग्री, प्रस्तर खंड की एक विशिष्ट रूपाकृति में निर्मिति है, सृजन है, निर्मिति से युक्त होने पर ही वे एक विशिष्ट रूपाकृति में विन्यस्त हो सके थे। इसलिए यह कहने के स्थान पर कि प्रतिमा का विशिष्ट विन्यास भंग हो गया है, यह कहना अधिक संगत है कि प्रतिमा की सृजन-धर्मिता भंग हो गयी है। और विशिष्ट विन्यास = सृजन धर्मिता—इस प्रकार का समीकरण प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि सौन्दर्य सृजनधर्मिता में निहित है। प्रस्तुत विवेचन के आधार पर विशिष्ट विन्यास = सृजनधर्मिता = सौन्दर्य —इस प्रकार का समीकरण प्रस्तुत किया जा सकता है। परन्तु फिर प्रश्न है कि सृजनधर्मिता अथवा निर्मिति क्या है?—कल्पना कीजिये कि विवेच्य प्रतिमा में रमणी का सोपांग अंकन है उसके अंगों की विविध रेखाएं, उनका उतार-चढ़ाव, उसकी भाव-भंगिमा, मुख-मुद्रा आदि का बहुत सूक्ष्म, मनोहर और जीवन्त चित्रण है, और समग्र प्रतिमा से सुभगा रमणी के हर्षोल्लास के भाव व्यक्त हो रहे हैं। अब भूमि पर चूर चूर हो कर बिखरे हुए प्रस्तर खंडों और प्रतिमा रूप प्रस्तर खंडों की परस्पर तुलना कीजिये।—क्या इनमें कोई मौलिक अंतर है?—शायद नहीं, क्योंकि प्रस्तर खंड एक ही हैं। लेकिन एक बार पुनः दोनों में अंतर तो मानना ही पड़ेगा, और वह अंतर यह है कि प्रतिमा रूप प्रस्तर खंड (निर्मिति से युक्त होकर) किसी भाव की (यहाँ हर्ष की) अभिव्यक्ति कर रहे हैं जबकि भूमिगत प्रस्तर खंडों से इस प्रकार की कोई अभिव्यक्ति नहीं हो रही है। अतः दोनों में अभिव्यक्ति विहीनता और अभिव्यक्ति (युक्तता) का अंतर है। तात्पर्य यह है कि निर्मिति से युक्त उपादान सामग्री अभिव्यक्ति-युक्त हो जाया करती है, हो गयी है। इसलिए विशिष्ट विन्यास = सृजनधर्मिता = अभिव्यक्ति—इस प्रकार का समीकरण प्रस्तुत करते हुए यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य अभिव्यक्ति में निहित है, अभिव्यंजना ही सौन्दर्य है।

प्रश्न है कि यदि सौन्दर्य प्रतिमा में ही निहित है तो अभिव्यक्ति का तत्त्व भी प्रतिमा में ही निहित माना जाना चाहिये और होना चाहिये। परन्तु क्या वह वस्तुत: प्रतिमा में निहित है ?—स्पष्ट ही ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रतिमा रूप जड़ प्रस्तर खण्डों में अभिव्यक्ति की चेतन-प्रक्रिया कैसे निहित हो सकती है ? जड़ प्रतिमा में चेतन भावों के समावेश के औचित्य का समर्थन कैसे किया जा सकता है ?—तब तथ्य क्या है ?—यहाँ यह देखने का प्रयत्न करें कि हर्ष के भाव की अभिव्यक्ति के लिए प्रतिमा में क्या विशिष्ट संरचनागत तत्त्व समाविष्ट किये गए हैं। दृष्ट और वस्तु रूप में ये विशिष्ट तत्त्व प्रतिमा के अधरोष्ठों का तनिक विस्फारित होना, हाथों का एक विशिष्ट दिशा और मुद्रा में उठा होना आदि हैं। हर्ष के भाव इन्हीं के कारण व्यक्त हो रहे हैं। परन्तु अतत तो प्रतिमा में सब प्रस्तर ही प्रस्तर हैं, उस में भाव कहाँ हैं, भावाभिव्यक्ति कहाँ है ?—और प्रस्तर स्वयं में सुन्दर हैं ही नहीं, यह हम पहले ही देख चुके हैं। तब क्या निष्कर्ष यह निकल रहा है कि सौन्दर्य वस्तुत प्रतिमा में निहित है ही नहीं और हम व्यर्थ ही उसमें उसकी खोज करने पर तुले हुए हैं ? लगता तो यही है, क्योंकि सौन्दर्य के स्वरूप निर्धारण के लिए प्रतिमा (जो सुन्दर है) का विश्लेषण करने पर उसके सौन्दर्य का बोध ही हवा हुआ जा रहा है। अत निष्कर्ष यह है कि कलाकृति में सौन्दर्य की खोज व्यर्थ है, उसके आधार पर सौन्दर्य का विश्लेषण और उसका स्वरूप निर्धारण नहीं किया जा सकता। लेकिन यह भी सही है कि हम प्रतिमा को सुन्दर कहते हैं, उससे सौन्दर्यबोध प्राप्त करते हैं, और हर्ष का भाव उस में निहित न होते हुए भी उससे प्रकट तो हो ही रहा है। इसका रहस्य क्या है ?

यहाँ से चर्चा प्रतिमा से हटकर कलाकार और सहृदय पर आ जाती है। इस रहस्य के उद्घाटन के लिए सर्वप्रथम कलाकार की सृजन प्रक्रिया पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

सृजन-प्रक्रिया वास्तव में कलाकार के मानस का एक अत्यन्त रहस्यमय और विलक्षण क्रिया-व्यापार है। स्वय कलाकार के लिए भी प्रामाणिक रूप से इस बात का कथन कर पाना कदाचित् कठिन ही होता है कि कलाकृति के बाह्यजगत में प्रत्यक्ष होने से पूर्व उसके मानस में घटित होने वाली रचना प्रक्रिया की शृंखला का उद्गम स्रोत और उसका स्वरूप क्या था। सर्जन प्रक्रिया पर विचार करने वाले विद्वानों में प्रोफेसर सी० एम० बावरा (द क्रियेटिव एक्सपेरिमेंट), जाके मेरिने (क्रियेटिव इन्ट्यूशन इन आर्ट एण्ड पोइट्री), आर्चर आर० हावेल (द मीनिंग एण्ड पर्पज आफ़ आर्ट),, जार्ज व्हैली (पोइटिक प्रोसेस) प्रभृति प्रमुख हैं। संस्कृत के आचार्यों ने सृजन-प्रक्रिया पर स्वतंत्र रूप से कहीं भी चर्चा नहीं की है। ध्वन्यालोक

में यत्र-तत्र ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं जिनके आधार पर सृजन की भारतीय अवधारणा की रूपरेखा तैयार की जा सकती है।

प्रस्तुत प्रसंग में, कल्पना कीजिये, कि कलाकार ने किसी समय हर्ष-विभोर किसी रमणी को देखा था और उस समय वह रमणी इसे बहुत मनोहर लगी थी। क्रमश: यह दृश्य कलाकार को विस्मृत हो गया परन्तु उस दृश्य (की अनुभूति) के संस्कार कलाकार के अवचेतन मन पर पड़े रहे। कालान्तर में, किसी अन्य परिस्थिति और क्षण में, कलाकार के अवचेतन में सुप्त वे संस्कार जागृत हो उठे और संस्कार के पुनरुज्जीवित होने के साथ ही पता नहीं कहां से किस दिशा और स्रोत से कलाकार के अंतर्तम की गहराइयों में एक भावात्मक प्रेरणा का संचार हुआ। भारतीय आचार्य इस प्रेरणा को प्रतिमा कहते हैं। मम्मटाचार्य ने प्रतिमा को 'वासना' कहकर भी स्मरण किया है। कोलरिज की सर्जनात्मक कल्पना से प्रतिभा का गहरा साम्य है। इस समय कलाकार के मानस में उद्बुद्ध संस्कारों में कोई स्पष्टता, कोई व्यवस्था नहीं थी वे एक अव्यवस्थित भाव शृंखला के रूप में उसके मानस में रह रहकर संचारित हो रहे थे और कलाकार उन्हीं में डूब उतराकर एक मंद आनद लहरी में प्रवाहित हो रहा था। इस मन स्थिति में किसी किसी क्षण उस रमणी से मिलते-जुलते या उस रमणी के लक्षणों से मिलते जुलते लक्षणों वाली किसी रमणी की धुँधली सी आकृति भी कलाकार के मानस पर उभर आती थी (यह आकृति कलाकार की प्रेयसी की भी हो सकती है), अथवा जिस स्थान पर उसने रमणी को देखा था, उस स्थान से सम्बद्ध किसी अन्य घटना या प्रसग की अनुभूति के संस्कार धूमिल रूप में उभर आते थे। कहा जा सकता है कि यह प्रेरणा के दिग्भ्रमित होने की स्थिति है, पर हमें ऐसा लगता है कि यह अव्यवस्थित भाव शृंखला कलाकार के मानस को तमाम संस्कारों के उलझाव से निकाल कर एक विशिष्ट मनोभूमि के निर्माण में सहयोग देती है। प्रेरणा में सहजज्ञान के अतिरिक्त भाव और कल्पना का समन्वय होता है। भाव और कल्पना के परस्पर घात प्रतिघात से भाव-संचरण के इस क्रम में प्रेरणा एक नुकीली दिशा प्राप्त करती है, कलाकार सर्वप्रथम उस दृश्य से अपना हृदय संवाद स्थापित करता है, तदनन्तर उसमें तन्मय होता है और कलाकार के उस दृश्य में तन्मय होते न होते उसकी प्रेरणा हर्षोल्लासमयी रमणी के उस दृश्य की अनुभूति के संस्कार को उसकी सम्पूर्णता में कलाकार मानस-पटल पर बिम्बरूप में पुनर्प्रत्यक्ष कर देती है। इस सिद्धान्त के व्याख्याता आचार्य यहां सहृदय हृदय (कलाकार भी) में वासनारूप-स्थित भावों की उद्बुद्धि का परिकथन करते हैं। लेकिन, जैसा कि हमने अभी-अभी कहा है, प्रेरणा में भी भाव का समावेश होता है, और कलाकार के ही अंतर्तम में उद्बुद्ध होने के कारण प्रेरणा संयुक्त भाव

कलाकार के ही हो सकते हैं। वैसे, प्रेरणा को भारतीय आचार्य वासना भी कहते हैं, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। बिम्बरूप में पुनर्प्रत्यक्ष रमणी की मूर्ति कलाकार की मानसी सृष्टि होती है, यहाँ कलाकृति-रूप कवि के मानस में सूक्ष्मरूप में पूर्ण हो जाता है। इसमें कलाकार पूर्णतः मग्न हो जाता है, मानो थोड़ी देर के लिए कलाकार का समग्र व्यक्तित्व ही उस हर्षोल्लासमयी रमणी के पुनर्प्रत्यक्ष मानसी बिम्ब में परिणत हो जाता है, और कलाकार एक दिव्य भावलोक में विचरण करता हुआ विलक्षण आनन्द का अनुभव करता है। यही सौन्दर्यानुभूति की स्थिति या सौन्दर्य-दशा है।

सहज ज्ञान प्रसूत इस मानस-बिम्ब का सम्बन्ध कलाकार की अंतःप्रज्ञा से होता है। यह अंतःप्रज्ञात्मक दृश्य परिदृश्यात्मक जगत् का चतुर्आयामी स्थूल प्रत्यक्षानुभूत दृश्य नहीं होता अपितु कलाकार की प्रेरणा जागतिक दृश्य की आत्मा में प्रविष्ट होकर कलाकार के मानस में एक ऐसे दृश्य को झलका देती है जो देश-काल की सीमाओं से परे, कार्य कारण की परम्परा से विनिर्मुक्त, जागतिक स्थूलताओं से विरहित, दिव्य आभा से मंडित, सूक्ष्म, साधारणीकृत दृश्य होता है। प्रतिभा इस दृश्य को कलाकार की अंतःप्रज्ञा में प्रस्फुटित अनंत सौन्दर्य-राशि से मंडित कर देती है। अभिनवगुप्त ने इसीलिए प्रतिभा को 'नव नवोन्मेष शालिनी' की संज्ञा दी है। पुनर्प्रत्यक्षीकरण के इस क्रम में कलाकार के मानस में दो प्रक्रियाएँ घटित होती हैं एक तो कलाकार लौकिक दृश्य को उसकी लौकिकता से मुक्त करता है और दूसरे, उसे अपनी आत्मा में समुद्भूत दिव्य सौन्दर्य से मंडित करता है। जाके मेरिते कलाकार के मानस के इस द्विविध व्यापार को 'लिबरेशन एण्ड ट्रान्सफार्मेशन' की प्रक्रिया कहते हैं। महाकवि कालिदास के शब्दों में यह 'प्रकृति का अन्यथाकरण' है और विलियम वर्ड्सवर्थ इसे ही 'डिस्टार्शन आफ नेचर' कहते हैं।

प्रेरणा का अनिवार्य सम्बन्ध रचना अथवा कलाकृति के बाह्य प्रत्यक्षीकरण से होता है। सौन्दर्यानुभूति की स्थिति में कलाकार की चेतना अपनी उस दिव्य अनुभूति, सूक्ष्म मानस दृश्य को अभिव्यक्ति प्रदान करने के लिए एक तीक्ष्ण आंतरिक वेदना (इनर ट्रेवेल) का अनुभव करती है। सहृदय सामान्य से कवि की सौन्दर्यानुभूति में अंतर का निर्देश करने के लिए एक स्थल यह है। सहृदय की चेतना केवल सौन्दर्य-दशा में निमग्न रहती है जब कि कवि सौन्दर्यानुभूति के साथ-साथ उसके प्रत्यक्षीकरण के लिए आंतरिक वेदना का भी अनुभव करता है। इस पश्चाद्वर्ती अनुभूति को सर्जनात्मक अनुभूति भी कहते हैं। कई विचारक अनुभूति-दशा और सर्जनात्मक स्थिति में कोई अंतर नहीं मानते। यह संगत नहीं प्रतीत होता। सौन्दर्य के प्रत्यक्षीकरण के अनंतर ही सृजन की स्थिति आती है। एक ही क्षण में

दो प्रक्रियाओं का युगपत् अस्तित्व स्वीकार भी कैसे किया जा सकता है। यह सही है कि 'अनुभूति दशा' 'क्रियेटिव पोटेंशियल' से युक्त होती है पर दोनों स्थितियों में क्षणांश का अंतर अवश्य है। तथ्य यह है कि इनमें अंतर लक्षित करना कठिन है। दुरंगी पेंसिल की भाँति वे एक के बाद दूसरी घटित होकर भी एक ही कन्टीन्युएशन में चलती हैं। सौन्दर्यानुभूति और सर्जनात्मक क्षण—अनुभूति और कल्पना—का परस्पर घात प्रतिघात चलता रहता है और कलाकार अपनी प्रखर कल्पना एवं स्मृति के बल पर बिम्ब मानस दृश्य में पुनः पुनः अवगाहन करता हुआ, उसका भावन करता हुआ, उसे मूर्त रूप देता है। जाके मेरिते' ने बिम्ब रूप (पर प्रत्यक्ष) मानस धर्म को 'आन्टोलाजिकल प्रिंसिपल' की अभिधा दी है। यह दृश्य लौकिक, जागतिक दृश्य से सम्बद्ध होते हुए भी सामान्य होता है, यही इसकी विलक्षणता है।

इस समय कलाकार के मानस में बौद्धिक एवं तार्किक शक्तियों का भी संचरण होता रहता है परन्तु वे कलाकार की प्रखर भावात्मक प्रेरणा द्वारा पचा कर आत्मसात् कर ली जाती हैं और कलाकार का मानस 'कला भाव' (काव्य के प्रसंग में 'पोइटिक सेंस') की एक विलक्षण शबलता की स्थिति से गुजरता है और क्रमशः कलाकार के द्वारा अनुभूत दृश्य के अनुरूप कलाकृति-रूप में परिणत होने लगता है। इसे 'कलावस्तु' (काव्य के प्रसंग में 'पोइटिक मैटर') कह सकते हैं। कलाकार इस 'कला-वस्तु' को धीरे धीरे उपयुक्त और अनुकूल माध्यमों—शब्द, प्रतीक, बिम्बादि—में ढालता चलता है और इस प्रकार अपनी अनुभूति को रूपायित करता है। संस्कृत के भारतीय आचार्य समस्त सृजन-व्यापार को स्वतःस्फूर्त मानते हैं। सृजन प्रक्रिया में प्रयास के स्वतंत्र योगदान को स्वीकार न कर वे उसे प्रेरणा अथवा सृजन-शक्ति में ही अंतर्भुक्त मानते हैं। 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः' छन्द का आकस्मिक स्फोट ही हुआ था, आदिकवि को न इसके विषय में पहले से कोई ज्ञान था और न उन्होंने इसके लिए कोई प्रयास ही किया। जबतक कलाकार का चित्त सौन्दर्यावेश से पूरी तरह भर नहीं जाता तब तक उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, और चित्त के पूरी तरह आप्लावित हो जाने पर उसकी मूर्त परिणति को रोका नहीं जा सकता।

परन्तु कलाकार की अनुभूति उसकी अपनी अनुभूति है, प्रोफ़ेसर हिरियाना के शब्दों में 'इट्स ए फ़ेज़ आफ़ हिज़ ओन पर्सनल बीइंग' (आर्ट एक्सपीरियेंस)—वह व्यक्त कैसे की जा सकती है? पर इसके पहले एक प्रश्न और है कि क्या कलाकार की अनुभूति वस्तुतः उसकी अपनी अनुभूति होती है?—इस सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि वह व्यक्तिगत होते हुए भी साधारणीकृत होती है, क्योंकि यदि कलाकार अपनी अनुभूति को

सामान्य रूप में अनुभूत नहीं कर सका है तो न तो वह कलाकार सफल कलाकार है और न उसकी अनुभूति लोक-ग्राह्य हो सकेगी। प्रोफेसर हिरियाना के शब्दों में वह 'पर्सनल इम्पर्सनल एक्सपीरियेंस' है। वस्तुरूप माध्यम के निर्देशों में जकड़े हुए कलाकार के लिए अपनी अनुभूति को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित कर पाना एक समस्या हो जाती है, क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति सभव ही नहीं है, उसका केवल अनुभव ही किया जा सकता है (इट कैन ओनली बी लिव्ड थ्रू)। इस उद्देश्य की सिद्धि के निमित्त कलाकार अपनी अनुभूति को इस ढग से रूपायित करता है कि कलाकृति के माध्यम से सहृदय दर्शक उसकी अनुभूति का भावन कर-सके। सामान्यत कहा जाता है कि भाव कलाकृति से व्यजित हो रहे हैं, परन्तु व्यंजना स्वतत्र नहीं होती, वह वस्तुत सहृदय सापेक्ष्य है, सहृदय श्लाघ्य है। सिद्ध कलाकृति के साक्षात्कार से सहृदय-दर्शक की भावना वासना (दूसरे शब्दों में प्रतिभा) उसी प्रकार उद्बुद्ध होकर सौन्दर्य रूप में अभिव्यक्त हो जाती है जिस प्रकार कलाकार की हुई थी। कलाकृति तो जड़ माध्यम मात्र है कलाकार पक्ष में वह उसकी अनुभूति की सहृदय हृदय में अभिव्यक्ति का माध्यम है और सहृदय पक्ष में वह कलाकार की अनुभूति के समान अनुभूति का माध्यम है, क्योंकि भाव वस्तुत सहृदय के ही उद्बुद्ध होते हैं। भाव और कल्पना-प्रवण दर्शक (सहृदय) अपनी भावना और कल्पना के पारस्परिक घात प्रतिघात से सिद्ध कलाकृति के माध्यम से कलाकार की अनुभूति की पुनर्सजना कर उसका कल्पनात्मक आस्वादन करते हुए उसी प्रकार की सौन्दर्य-दशा में पहुँच जाते हैं जिस प्रकार की सौन्दर्य दशा में कलाकार पहुँच चुका है। आनंद इस दशा का नित्य लक्षण है। इस स्थिति में ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का पूर्ण परिहार हो जाता है।

इसीलिए सौन्दर्य मूर्त्ति में निहित नहीं है वह न कोई मूर्त वस्तु है और न वस्तुगत गुण, वह तो एक अनिवार्यत आनदमयी चेतना, अनुभूति मात्र है जिसमें समस्त इन्द्रिय-व्यापारों की सतत् प्रवहमान धारा एकाध क्षण के लिए अवरुद्ध हो जाती है और जो कलाकृति के माध्यम से कलाकार के हृदय से सहृदय हृदय में संचरित और व्यक्त होकर अपना वृत्त पूरा करती है। यह आनन्द सामान्य लौकिक आनद नहीं है, अपितु एक विलक्षण आनद है जिसे लोकोत्तर कहा गया है। वह लोक विलक्षण और निष्प्रयोजन आनद है। वह इन्द्रिय-व्यापार नहीं है, मानसिक व्यापार है। वह किसी का साधन नहीं है, वह स्वयं साध्य है। वस्तुत कलाकृतियाँ स्वय में सुन्दर नहीं होती, वे सहृदय को सौन्दर्य दशा तक पहुँचाने का माध्यम मात्र होती हैं। अपनी इस अनिवार्यता के कारण ही वे सुन्दर कही जाती हैं, यह लाक्षणिक प्रयोग की परम्परा है। यही सुन्दर कलाकृति का रहस्य है।

उच्चतर मूल्य : नैतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य

रमेश कुन्तल मेघ

समाज में नैतिकता के मूल्य सामान्य नारी पुरुषों के नन्हे-नन्हे घरों से लगा कर विशाल संसार के कला, सौन्दर्य, नीति के आन्दोलनों के दावेदार रहे हैं। पवित्रता, शुभम्, औचित्य, कर्त्तव्य, उत्तरदायित्व इन सब में सर्वोच्च शुभम् के मूल्य नैतिक सम्बन्धों के ही परिणाम हैं, जिनके एक छोर पर तो सुख प्रदान करने वाले बोधों में शिवत्व की भावना है, तो दूसरे छोर पर मानवीय स्वतन्त्रता तथा सामाजिक परिस्थितियों से सचालित कल्याण की उत्कृष्टता सलग्न है। नतिकता के मूल्यों का मुख्य सिद्धान्त है कि हम मनुष्य की अच्छाइयों की आर्शसा करे क्योंकि नैतिकता स्वय मनुष्य तथा उसके मानवीय समाज के प्रति एक स्वेच्छा पूर्ण अनुग्रह है! यह मानवीय व्यवहार के वर्णनों और व्याख्याओं के क्षेत्र से परे उनके मूल्यांकनों से सबधित है क्योंकि यह भले-बुरे, उचित-अनुचित, के आदर्श को बतलाती है। अत इसकी सगति चितनात्मक जीवन की अपेक्षा क्रियात्मक जीवन से अधिक है। यह आदर्श व्यवहार की—रीति-रिवाजों और आदतों के अर्थ में—विवेचना है। इसका सम्बन्ध समाज में मनुष्य के व्यवहार से होने के कारण अनेक मौलिक प्रश्न उठाये गये हैं क्या "अच्छाई" का कोई ऐसा सर्वमान्य आधार है, जो सम्पूर्ण मानवता को मान्य हो? यदि है, तो उस आधार का निर्णय किस प्रकार होगा? कर्तव्य क्या है? क्या हम अपनी स्वाभाविक इच्छा, वासना, कर्म, अनुभूति या विचारों के दमन को ही 'उचित व्यवहार' माने? या उन इच्छाओं की पूर्ति अथवा अन्य प्रकार से प्राप्ति ही उचित व्यवहार है? नैतिकता के मूल्य इन सब मूल्य सम्बन्धों की मर्यादा रखते हुये शुभम् के परमोत्कर्ष की ओर केंद्रित होते हैं। अतः यह निश्चित है कि नैतिक मूल्यों का उनकी-प्रकृत एव सैद्धातिकावस्था में समाज के कल्याण की लक्ष्य-प्राप्ति में ही चरम-अवसान होता है यद्यपि सम्पूर्ण मानव जाति के लिये मान्य नैतिक मूल्य कभी भी निर्धारित नहीं हो सकेंगे क्योंकि देश, काल, सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार नैतिक मूल्यों में गम्भीर और मौलिक अन्तर हो सकते हैं। पर यह निर्विवाद रूप से कहा जाएगा कि अपने क्रियात्मक अथवा व्यावहारिक पक्ष में नैतिक मूल्यों में दो सर्वदेशीय विशिष्टतायें विद्यमान रहती है—कट्टर पथ (कंजरवेटिज्म) और प्रभुत्व। इन्हीं दो विशिष्टताओं के कारण नैतिकता परपरा तथा धर्म से सम्बद्ध हो जाती है क्योंकि नैतिक भावनाओं का स्रोत जीवन और समाज में न प्रवाहित किया जाकर अलौकिकता को आकाश-गंगा में खोजा जाता है तथा सारे नैतिक आधार परमात्मा के वाक्य हो कर अनित्य, अनादि, अनत हो जाते हैं जिनका तार्किक विरोध तक एक नैतिक-बुराई है। गैलीलियो,

मुकराम, पंडितराज जगन्नाथ अथवा भारतीय पुनर्जागरण काल में राम मोहन राय एवम् भारतेन्दु के विरुद्ध ये ही नैतिक रूढ़ियाँ— प्रयुक्त हुई हैं [वाङ्मय में—प्रकारांतर से] जिनका प्रभाव तार्किक नैतिकता के अभ्युदय में हुआ जिसमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण, चिंतन भावना तथा समाज की प्रगतिशीलता प्रस्फुटित हुई। उस युग में स्त्री शिक्षा, लोक भाषा का प्रचार, समाज सुधार की साहित्यिक वृत्तियाँ इसी तार्किक नैतिकता के मूल्य हैं। अतः तार्किक-नैतिक मूल्य वैज्ञानिक एवं परम्परागत नैतिक मूल्य, दोनों ही सत्तात्मक हैं।

मानवीय-कल्याण की संस्थाओं में नैतिक श्रेष्ठता, वैज्ञानिक निर्णय तथा कलात्मक श्रेष्ठता का प्रमुख महत्व है। नागरिक स्वस्थ, समृद्ध और समाज में कल्याणकारी व्यवहार करते हों, रति की पवित्रता हो—यही नैतिक श्रेष्ठता है। कला में सौन्दर्य उदात्त और मंगलमय हो, सहयोग, समानता और प्रेम की ओर प्रेरित करता हो—यही कलागत श्रेष्ठता है। बुद्धि के पाश इतने क्रूर न हों कि करुणा लुप्त हो जाए, अपितु रूढ़ियों, अंध विश्वासों, शोषणों से मुक्ति मिले, यही वैज्ञानिक श्रेष्ठता है। श्रेष्ठता पर स्थित इन मूल्यों पर नैतिक मूल्यों का स्वतः आच्छादन हो जाता है। यद्यपि प्रत्येक कार्य नैतिक नहीं होता लेकिन सभी कार्य किन्हीं विशेष परिस्थितियों में अपने प्रभावों के कारण नैतिक महत्व के हो सकते हैं। इसीलिये स्वेच्छापूर्ण कर्म और जीवन-प्रवाह की मौलिक धारा पर उसका प्रभाव नैतिक-व्यवहार की शर्तें हैं। यदि कोई व्यक्ति मानसिक यातना या परवशता के कारण कोई कर्म करता है, तो उसमें नैतिकता-अनैतिकता का प्रश्न नहीं उठेगा। स्वेच्छापूर्ण या प्रयोजनपूर्ण कर्म में ही नैतिकता का प्रश्न उठाया जा सकता है। आर्थिक कारणों से किसी स्त्री का वेश्या बनना, नैतिक क्रूरता के कारण किसी युवती का आत्महत्या करना, अथवा शासन-सत्ता के भय के कारण किसी कलाकार द्वारा कुत्सित कृतियों का निर्माण करना आदि कर्मों को हम 'बुरा' नहीं कह सकते क्योंकि ये स्वेच्छा से अथवा किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये प्रयोजनपूर्ण कर्म नहीं है। इनमें 'चाहिए' की भावना का होना अनिवार्य है। उदाहरण स्वरूप शिशु-मनोविज्ञान की एक घटना लें। घरौंदे बनाते हुये शिशु से यदि उसकी मा आकर उसे खो जाने को कहे और वह शिशु उत्तर दे—'थोड़ा ठहरो, मैं अपना घर तो बना कर समाप्त कर लू।' तो शिशु के मन में यह भावना उठ रही होगी कि घर तो बन कर समाप्त हो ही जाना चाहिए, उसे इस आवश्यकता को पूरा करना ही चाहिए। यहां से उसके मन में नैतिक चेतना का बीज अंकुरित होता है और उसके किशोर होने पर कई वर्षों बाद जब माँ उससे कहे 'तुम्हें घर का काम पहले करना चाहिए' तो अवश्य ही वह शिशु स्वेच्छापूर्ण वह कार्य पूरा करेगा। उसने बचपन से ही यह अनुभव किया है कि गृह कार्य पूरा किया जाना चाहिए और

यही भावना उसमें स्वतः विद्यमान है जिसे किसी शिक्षक, धर्म शास्त्र आदि ने नहीं समझाई। इसी प्रकार किसी के जन्म दिन पर पत्र आने पर उपहार भेजा जाना चाहिए, इसलिये नहीं कि वह व्यावहारिक अथवा परम्परागत है परन्तु प्रकृतावस्था की पुकार है कि उपहार भेजा जाना चाहिए। यदि कोई कलाकार जानता है कि किसी विशेष प्रकार के साहित्य से कला अश्लील हो जाती है और फिर भी वह उसका सृजन करता जाता है तो निश्चय ही यह उसकी दुर्बलता नहीं है अपितु निश्चय ही वह 'अनैतिक' है। एक सुन्दर स्त्री को अपने रूप और लावण्य की वृद्धि करना चाहिए क्योंकि वह उसकी व्यक्तिगत सपदा नहीं है अपितु प्रकृत-माधुर्य है। कार्लमार्क्स ने या अलबर्ट आईन्स्टीन ने वर्ग-संघर्ष, आणविक ईक्वेशन के अपने नियमों को खोजा। उनके लिये उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करने का कोई साधन है ही नहीं। उन नियमों के प्रबल आवेशों और चिन्तनों को खोजा जाना ही चाहिए, प्रयोग किया ही जाना चाहिए, व्याख्या का ही जानी चाहिए। "चाहिए!—" 'यह आज्ञापालन की ही भावना है जिसे हम प्रकृत्या अनिवार्य नैतिकता कहते है। इसका तात्पर्य उन मांगों के प्रति सजग रहना है जिन्हें मानवीय जीवन की दशायें हम पर आरोपित करती हैं।[1] प्रयोजनपूर्ण कर्मों में ही उत्तरदायित्व के मूल्यों की अन्विति रहती है। नैतिक व्यवहार के दूसरे पक्ष के अन्तर्गत उसका हमारे जीवनयापन की मूल धारा पर सक्रिय प्रभाव आता है। जीवन-यापन की सक्रिय धारा को नैतिक व्यवहार हमारे अन्य व्यक्तियों से संबध, आदतों, सामाजिक आचारों-विचारों, अथवा धार्मिक-रीतियों द्वारा प्रभावित करते हैं। किसी भी व्यक्ति का कार्य तभी नैतिक मूल्यों की दृष्टि से महत्वपूर्ण होगा जब "वह (क) अन्य व्यक्तियों के प्रयोजनों, या (ख) उसके समाज की संस्थाओं (धर्म, सर्कार), या (ग) स्वयं उसके चरित्र निर्माण के निश्चयो एव कार्यों को प्रभावित करे।"[2] अस्तु किसी नैतिक भावना को पूर्ण और स्थायी मानना अमांगलिक होगा क्योंकि उपर्युक्त सम्बन्धो में साधन-साध्य-सम्बन्ध शुभम् के तथा कल्याण के मूल्यो को प्रतिष्ठित करते हैं। किसी साध्य की प्राप्ति के लिये साधन का चुनाव ही तो स्वेच्छापूर्ण व्यवहार कहा जाएगा और नैतिक मूल्यांकन तो समान रूप से साधन तथा साध्य पर व्यवहृत होता है। गांधी, तोलस्तोय, भारत के सन्त कवियों, रस्किन आदि ने साधनों पर तथा मार्क्स, स्वच्छन्दतावादी कवियों और कुछ दार्शनिकों ने साध्य पर जोर दिया। तोलस्तोय और रस्किन तो सर्वदा यही कहते थे कि

१, औस्वाल्ड स्वार्ज़ 'द साइकोलजी आफ सेक्स' पृष्ठ २१०।

२, रैंडाल एण्ड बूखर 'फिलसफी : एन इंट्रोडक्शन', पृ० २४६।

नैतिक मूल्यों से शून्य कोई भी वस्तु सुन्दर नहीं हो सकती तो द्विवेदी युग के लेखक व कवि नैतिक मूल्यों के बिना काव्य में सौन्दर्य का एक अंश भी नहीं स्पन्दित करते थे। भारतीय साहित्य के मूल्य कला और सौन्दय, अर्थ और काम, सभी को धर्म के अर्थ में प्रयुक्त उच्चवर्गीय नैतिक मूल्यों के आधीन रखते रहे थे। अत हमारे नैतिक व्यवहार सौन्दर्य-मूल्यों से संकुल हो सकते हैं, तथा सौन्दर्य-मूल्य नैतिक मूल्यों से परे। कोई व्यक्ति 'रामचरित मानस' को नैतिक व्यवहार की दृष्टि से पढ़ता है, तो दूसरा उसमें कलात्मक मूल्यों की श्रेष्ठता के कारण। सौन्दर्य मूल्यों और काव्यात्मक मूल्यों की स्थिति वस्तुओं में है, चिंतन में है। परन्तु नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा क्रियात्मकता एव सबन्ध-निर्धारण में है।

ओस्वाल्ड स्वार्ज़ ने नैतिकता की तीन श्रेणियाँ की हैं—धार्मिक, परम्परागत तथा अनिवार्य।[१] धार्मिक नैतिकता एक सर्वोच्च नियामक (ब्रह्म) की अवतारणा करके निरपेक्ष उपादेयता की मांग करती है। किसी एक ऐतिहासिक समय, एक सामाजिक अवस्था, या व्यवसायिक सामूहिकता के सम्ब ध के अनुकूल होकर परम्परागत नैतिकता भी पर्याप्त साधारण स्तरों पर वैसी ही मांगे करती है। अनिवार्य या नैसर्गिक नैतिकता वस्तुओं अथवा अवस्थाओं के स्वभाव के कारणों से उठी हुई मांगों का सम्पूर्ण योग है। परम्परागत नैतिकता के अन्तर्गत वे अनेक व्यवहार आ जाते हैं, जो किसी समय में किसी सम्प्रदाय अथवा मत द्वारा प्रचारित किये गये थे, जिनका महत्व और मूल्य अब कुछ भी नहीं है। किन्हीं विशेष संस्कारों के अवसरों पर विशेष प्रकार की वेशभूषा, किसी विशेष जाति के साथ खान-पान, बातचीत की शिष्टतायें आदि इसी के अन्तर्गत आते हैं। भारतेन्दु युग का काव्य 'भोजन-वेष के नैतिक मूल्यों से आक्रांत है, तो द्विवेदी युग का काव्य नारी-सदाचार तथा प्राचीन रीति-रिवाजों से। छायावाद युग की नैतिकता नारी, व्यक्ति तथा कला के नैसर्गिक मूल्यों की स्थापना के लिये महत्त्वपूर्ण है। द्विवेदी युग की मूल नैतिक समस्या पवित्रता—ही मिथ्या थी। यह द्वन्द्व नैतिकता थी स्त्री और पुरुष के लिये भिन्न भिन्न पवित्रता के मान थे। प्राचीन राजा, ज़मींदार, तथा सतियों के वर्णन के लिये भिन्न प्रकार के नैतिक व्यवहार तथा सामान्य कृषक दोनों के प्रति भिन्न प्रकार के। नैतिकता एक प्रमुख मूल्य 'शुभम्' की स्वीकृति के पश्चात् 'पवित्रता' की भी परिभाषा करना कठिन हैं, क्योंकि इसका सम्बन्ध अनुभूति से है, न कि स्थूलता से। पवित्रता नारीत्व का नैसर्गिक गुण है। वास्तविक या प्रौढ़ पवित्रता में (—उसके मूल तत्त्व में) जीवन ओजस्वी तथा अंतसंघर्षों से मुक्त रहता है। शिशु की

१. ओस्वाल्ड स्वार्ज़, 'द साइकोलोजी आफ सेक्स' पृ० २०८।

पावनता के समान ही किसी कुमारी का भोलापन होता है, और यहां पुनः स्त्री की पवित्रता का उसके कुंवारेपन से सादृश्य मानना गलत है।४ कालिदास की शकुतला पवित्र थी यद्यपि गन्धर्व-विवाह के पश्चात् गर्भवती हो जाने के उपरांत, दुष्यंत ने उसे स्वीकार नहीं किया। गोकुल और वृन्दावन की विवाहित गोप युवतियाँ वंशी की दूरागत गूँजों पर कृष्ण के मधुर मिलन के लिये अंधेरी रातों में नैतिकता की यमुना लाँघ कर चली जाती थीं। राफेल को मैडोना और शिशु अभी भी अपनी अबोधता से शताब्दियों को कलाओं के नयनरंजन बने हैं। पवित्रता तो एक आत्मिक स्वभाव है, जिसका लोप हो ही नहीं सकता। लेकिन रति-नैतिकता का तात्पर्य ब्रह्मचर्य अथवा रति का भयकर नाशकारी दमन नहीं है, अपितु शारीरिक औचित्य के अनुसार उसकी नैसर्गिक तृप्ति है। चिरस्थायी और सच्चे प्रेम में उसकी पूर्णता होती है। रीतिकालीन अवगुठना चद्रमुखियों, सस्कृत काव्यकालीन गवाक्षों से झाँकती अजन-नयनाओं तथा प्रगतिशील युग कालीन रूढ़ि मुक्त श्लील नारियों में इसी रति-नैतिकता के प्रभेद हैं। अश्लीलता जहाँ कहीं भी होगी वहां लज्जा और शिष्टता का लोप हो जायेगा। आधुनिक युग ने १९५० ई० के बाद नारी को सांस्कृतिक सक्रांति के चौराहे पर लाकर सहगामिनी बनाया जब कि छायावाद युग ने उसे सकीर्ण नैतिकता की कोठरी से निकाल कर पूजा, प्रेम और अतृप्ति के अन्तःपुर में आसीन किया था। रति की नैतिकता के आरभ के विषय में 'फ्रायड ने निष्कर्ष निकाले थे कि कबीले के व्यक्तियों की हत्या का निषेध और दूसरे समूह के अन्तर्गत परस्पर ब्याह का निषेध, इनके द्वारा ही नैतिकता और सामाजिकता जीवन का अभिनवारभ हुआ था।५ पहले मातृ शिशु के सबध आदिम सामाजीकरण करने और सभ्य बनाने की प्रवृत्तियां थी, जो कृषियुग में आकर पति पत्नी के सदाचार में स्थानांतरित होती हैं। अत 'पवित्रता' के साथ साथ, उत्तरदायित्व' के मूल्य की आधारभित्ति तैयार की गई। उत्तरदायित्व के द्वारा व्यक्ति परस्पर तथा अपने वातावरण के साथ शुभ तादात्म्य स्थापित कर सका।

भारतीय नैतिक-मूल्यों की तीन विशिष्टतायें हैं (क) ये अध्यात्मिकता और पारलौकिता (भाग्य, पाप) से अधिक नियोजित हैं, (ख) ये वर्णों के आधार पर विभाजित हैं एवं (ग) इनमें सयम, नमन, सहन की आवश्यकताओं पर जोर दिया गया है। सनातन धर्म के चरण में आते-आते धर्म का कल्याणकारी, व्यापक, आचार व्यवहार वाला रूप करता, अंधविश्वास

४. ओस्वाल्ड स्वार्ज, 'द साइकोलोजी आफ सेक्स', पृ० २१२।
५. जे० ए० सी० ब्राउन, "इवोल्यूशन आफ सोसाइटी", पृ० ६९।

और कट्टरता में परिणत हो चुका था। धार्मिक नैतिक मूल्यों को किसी अपके अभ्याव के लिये छोड़ दे तो भारतीय नैतिक मूल्य तीन प्रकार के माने गये हैं—तामसिक (स्वार्थ-परार्थ मूलक), राजस—(दूसरों को हानि पहुंचाए बिना कार्य करना) और सात्विक (हानि सहकर भी दूसरों का कल्याण करना)। शुद्धि, संयम और भौतिक उपलब्धि की तीन कसौटियों पर भौतिक पक्ष पूर्णतः तामसिक हो गया है। परन्तु अरस्तू जैसे मनीषी भी नैतिक शुभ के व्यवहार के लिये भौतिकसमृद्धि को आधार मानते थे। भारतीय तत्त्वज्ञान में सत्य-रस, ज्ञान-रस, विज्ञान-रस द्वारा जो आनन्द और सौन्दर्य की उपलब्धि की जाती है, वह लोक-मंगल और नीतिमत्ता पर आश्रित रहती है। वास्तविक संसार को माया मान कर चलने वाले नीतिशास्त्र ने नैतिक मूल्यों को अलौकिक, ईश्वर-वाक्यों की कोटि में रख कर अधिकांशतः जीवन धारा और सामाजिकता छीन ली। "भारत की मध्य युग की नैतिकता का लक्ष्य ही अतृप्त वासना और मूक वेदना को जन्म देना रहा है, जिससे बंगाल के वैष्णव कवियों के कीर्तन एवं सूर-मीरा के पद भी प्रभावित हुए हैं। संसार के सभी देशों की संस्कृतियां अभी भी सामंत युग की नैतिकता से पीड़ित है।"[६] सामंत युग के समस्त कला वैभव में नैतिकता प्रभुस्वामियों के स्वेच्छाचार, नियंत्रण तथा सामान्य जनता की मूढ़ता, नारियों की विलास-सामग्री जैसी स्थिति में परिणत हुई। सती और बालविधवा, पापी और शूद्र उसी नैतिकता की देन हैं। अत इन नैतिक मूल्यों की ऐतिहासिक उपयोगिता नहीं रही। भारतीय नैतिक मूल्यों के प्रमुख आधार शास्त्र, स्मृति, सूत्र ग्रंथ ही अधिक रहे, जो आचार-शास्त्र से व्यवहार शास्त्र होते गये। मनुस्मृति में प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक आश्रम, नारी एवं शूद्र के कर्मों व्यवहारों का सीमा विभाजन कर दिया गया है, तो गृह्य-सूत्र में घर में की जाने वाली धार्मिक क्रियाओं, ब्याह, जन्म आदि का वर्णन है। महाभारत में आचार व्यवहार के नौ मूल्यों (धर्म) का व्यापक, सरल और मानवीय वर्णन है—क्रोध न करना, सत्य बोलना, दूसरों को भाग (दान) देना, क्षमा करना, अपनी स्त्री में अनुराग रख कर संसार चलाना, पवित्र रहना, द्रोह न करना, सरल और सीधा रहना, आश्रित जनों का भरण पोषण करना। मनु अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दम, दया और क्षमा को धर्म के साधन मानते है। समाज में सहयोग और उत्तरदायित्व तथा कर्तव्य के मूल्यों की विवेचना में अथर्वसंहिता का एक भाग उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं किया जा सकता—"मैं (समाज प्रतीक) तुम्हारा एक मन हृदय और द्वेष नाश करता हूं। एक दूसरे के पास जाओ। जिस प्रकार सद्य-जात बछड़ा गाय के पास जाता है उसी प्रकार

६ पन्त, "आधुनिक कवि", भूमिका, पृ० ३२

पुत्र पिता के अनुकूल रहे, माँ के साथ एक मन करे, स्त्री शान्तिपूर्वक पति से मीठी वाणी बोले, भाई-भाई से द्वेष न करे, बहन बहन से द्वेष न करे, सम्मिलित होकर, एक मत (प्रतिज्ञा, नियम) वाले होकर शुभ रीति से वाणी बोले—जो बुजुर्ग हैं, बुद्धिशाली हैं, वे अलग न हों। इकट्ठे होकर सुख भोगते हुये और इकट्ठे होकर कर्तव्य-चक्र वहन करते हुये घूमो। एक दूसरे के साथ सुन्दर वाणी बोलो—आओ, मैं तुम सब को इकट्ठा मिला दूँ एक-मन कर दूँ।" सनातन-धर्म के काल पश्चात भारतीय नैतिक मूल्यों को महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत जैसे धार्मिक काव्य ग्रंथों तथा वात्सायन के 'कामसूत्र' ने प्रभावित किया। प्रथम प्रकार के ग्रंथों का प्रभाव तो आधुनिक काव्य मूल्यों में आज तक पड़ रहा है, यथा, पारिवारिक महाकाव्य, नारी की समस्यायें, वर्णों की मैत्रियाँ, तथा सामाजिक भावना का शनैः विकास आदि।

जब ये नैतिक मूल्य 'चरमोत्कृष्टता' को अपना आदर्श मान बैठते हैं, तो वे आप्त प्रमाण हो जाते हैं। केवल कुछ आदर्श पात्रों, नीतियों, आचारों के रूप समाज में प्रतिष्ठित करके मनुष्यों से यंत्रों की तरह केवल मात्र अनुकरण करने को कहा जाता है जिससे धार्मिक रूढ़ियों अपरिवर्तनवादी वृत्तियों तथा अनुपयुक्त उपदेशात्मकता की प्रचुरता हो जाती है। यूनान के महान् मनीषी प्लेटो काव्य को उसकी अनुकरण प्रवृत्ति के कारण ही हेय समझते थे। अनुकरण द्वारा कवि एक बिंब का पुनः प्रतिबिंब रूपण करके मिथ्या, वर्णनात्मक उपादेयताओं को प्रतिपादित करता था। वाल्मीकि ने तो रामायण में राम की नर श्रेष्ठता तथा भारतीय गार्हस्थ्य जीवन की शब्दतूलिका खींची है परन्तु पश्चात् के कवियों ने राम-जानकी की परस्पर प्रीति, नर श्रेष्ठता, गार्हस्थ्य नैतिकता को अपरिवर्तनवादी बनाकर उन्हें घोर संकीर्णता के तंग घेरे में बंद कर दिया। तुलसी के मर्यादा पुरुषोत्तम राम केवल प्रतीकों के श्रेष्ठ आदर्श मात्र हो गये। कालान्तर में राम, कृष्ण, विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी, जैसे सम्राट, जौहर, सती-प्रथा, दहेज जैसी प्रथाओं ने केवल देश-काल से विमुख होकर अपरिवर्तनमयी तथा प्रभुत्वपूर्ण स्थिति ही ग्रहण कर ली।

नैतिक कानून नैतिक मूल्यों के ह्रास के दूसरे कारण हैं। ये जबरदस्ती लादे जाने वाले नैतिक बोझ हो जाते है, जिनमें केवल पालन का उद्देश्य ही रहता है। तार्किक भावना और करुणा का पूर्णतः लोप हो जाने से ये प्रभुत्वात्मक, पुरातनवादी, क्रूरता से पूर्ण तथा व्यभिचारों से विकृत हो जाते हैं। सम्पूर्ण मानवीय करुणा के प्रति ये निर्मम और कठोर होकर दैन्य पलायन तथा भाग्य आदि जैसे हेय स्तरों में विश्राम खोजते हैं। आवश्यकता से अधिक पालन की कठोरता के द्वारा ये नैतिक नियम दुखों की सृष्टि करते हैं। भारतीय नैतिकता में बाल विधवायें, शूद्रों की पददलित श्रेणियाँ, धर्म-वर्ण की दीवारों में खंडित मानव-

नीतियाँ, भयंकर जनसंहार के दंगे इसी कठोरता के परिणाम हैं। सनातन धर्म का लगभग संपूर्ण ढांचा समाज के लिये अनुपयोगी, अकल्याणकर और अनावश्यक हो चुका है, क्योंकि उसका नैतिकता सामंत युग की नैतिकता है, जो आज के औद्योगिक युग के लिये आत्मघाती और अनुपादेय है। जर्मन दार्शनिक कान्ट ने नैतिक नियमों को इतना निरपेक्ष बना दिया कि उनका पालन ही केवल मात्र धम तथा परम कर्तव्य है। उन्होंने मानवीय सम्वेदना, समाजिक परिस्थितियों तथा तर्कों का पूर्णत बहिष्कार कर दिया। वस्तुत ये नैतिक-नियम अपनी क्रूरता, कठोरता और अपरिवर्तनशीलता में मानव के नैतिक अह (सुपर-इगो) द्वारा नियंत्रित होते हैं, जो पिता के शासन-नियमों से शिशु में प्रस्फुटित होकर अपराध भावना की सृष्टि करते हैं। अपराध-भावना के भय से बचने के कारण ही उन्हीं क्रूरता, प्रभुता, कठोरता के नैतिकचक्रों में पिसते हुये सामान्य जन उसे तोड़ने का साहस नहीं कर पाते हैं। विश्व के महानतम सुधार आन्दोलनों, क्रांतियों और नूतन कला पद्धतियों का विरोध समाज के व्यक्तियों के इसी नैतिक अहं (सुपर-इगो) द्वारा होता है।

अतः नैतिकता में 'चरमोत्कृष्टता' तथा 'नियमबद्धता' के विरुद्ध कुछ नैतिक चिंतकों (हीगेल, स्पिनोजा फिख्टे) ने मानवीय संवेदना और तर्कशील को नैतिक मूल्यों का मूलाधार माना। मनुष्य की मनुष्य के प्रति सवेदना ही करुणा है। ज्ञान के प्रति अनुराग तर्क है। यूनानी मनीषी प्लेटो अपने नगर राज्यों की कल्पना में तर्क को ही नैतिकता, शासन, और सगीत शिक्षा का नियामक मानते थे। अत कोई अलौकिक सत्ता के स्थान पर समाज की सत्ता ही नियमों की नियामक होती है—जहां उन्हें आर्थिक आवश्यकतायें, रुचियां, इच्छायें, परिस्थितियां प्रभावित करती हैं।

हम किसी शून्य में, पशु-समाज में, निजन राज्य में, नैतिक मूल्यों की स्थापना नहीं कर सकते। इनका आधार जीवन, यथार्थ और प्राणवान सामाजिक कल्याणकारी संबंध स्थापन होना चाहिए। यदि नैतिक मूल्य जीवन को समस्याओं का परित्राण करते हुये जड़ीभूत होते हैं, तो उनकी स्वीकृति नहीं होती। उदाहरण के लिये यदि किसी समाज में जननेन्द्रिय रोगों की प्रधानता है, तो रति-संबंधो में शिक्षा देना तब कोई विशेष लाभदायक नहीं होगा यदि हम यह न देखे कि कहां तक इन रति दमनो को स्वस्थ-द्वार दिया जा सकता है, कहाँ तक इन्हें रोका जा सकता है, या सामाजिक दशायें कौन सी हैं—। आर्थिक, पारिवारिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियो की पृष्ठभूमि में ही इस समस्या को समझा जा सकता है। द्विवेदी युग की निष्प्राण नैतिकता के विरुद्ध छायावाद का आदर्शवादी विद्रोह, और प्रगतिशील काव्य के युग के सामाजिक तथा यथार्थवादी विद्रोह इन्हीं दृष्टिकोणों

का परिणाम हैं। और, आज की मनोवैज्ञानिक खोजो से यह स्पष्ट हो चुका है कि नैतिकता की समस्या सामाजिक और आर्थिक अधिक है। इसकी दारुणता के मूल में दरिद्रता, कष्ट तथा घृणापूर्ण दांपत्य-जीवन, स्वास्थ्य की दारुणावस्था, कार्यों में अरुचि, आदि हैं।

मार्क्सवादी सामाजिक दृष्टिकोण ने इन नैतिक मूल्यो को धर्म के क्षेत्र से उठा कर सामाजिक नैतिकता और समाजवादी यथार्थ में स्थापित किया। परिवार की विकृतियाँ, आर्थिक शोषण-चक्र तथा धर्म के अंधकार, अविद्यादि से मानव को ऊपर उठा कर स्वस्थ समाजो में प्रतिष्ठित किया। समाज में नैतिक मूल्यो के प्रति यथार्थवादी और तर्क पूर्ण दृष्टिकोण के द्वारा मार्क्सवादी दर्शन ने निष्कर्ष निकाला कि मानवीय स्वतन्त्रता ही सब नैतिक मूल्यो का आधार है, मानवीय कल्याण ही सर्वोच्च शुभ है।

कतिपय छन्दों पर पुनर्विचार

गौरीशंकर मिश्र 'द्विजेन्द्र',

प्राचीन संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश छन्द परम्परा में माधव मालती नाम का तथा इसकी ल का कोई छन्द उपलब्ध नहीं होता। प्राचीन तथा आधुनिक हिन्दी छन्द शास्त्रियों ने भी ऐसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया। केवल डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने इसका उल्लेख किया है और इसे नवीन छन्द माना है। उनके अनुसार सप्तक (ऽ।ऽऽ) की चार आवृत्तियों से इसका निर्माण होता है। इसकी तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवीं मात्रा अनिवार्यत लघु होती है और अन्त में दो गुरु श्रुति मधुर होते हैं।[1] गीतिका छन्द का निर्माण भी इसी सप्तक की तीन आवृत्तियों और रगण के योग से होता है। इसी गीतिका के अन्त में दो मात्राएँ जोड़ देने से यह छन्द बन जाता है। छायावाद युग के पूर्व इस प्रकार का छन्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ था। इससे यह अनुमान कर लेना कि इस छन्द का आविष्कार छायावाद युग में हुआ और यह नवीन छन्द है, युक्तिसंगत ही है। पर पद-साहित्य में अनेक ऐसे छन्द छिपे पड़े हैं जिनके प्रकाश में आने पर छायावादी नवीन छन्द प्राचीन सिद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार एक तथाकथित नवीन छन्द 'रजनी' है। डा० शुक्ल के अनुसार 'यह नवीन छन्द सप्तक (ऽ।ऽऽ) की तीन आवृत्तियों और गुरु के योग से बनता है। इसकी तीसरी, दसवीं तथा सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यत लघु होती है'।[2] रजनी का निर्माण रूपमाला (२४ मात्राएँ) के अन्तिम लघु को निकालकर कर लिया गया है। महादेवी की निम्नलिखित पंक्तियाँ—

बीन भी हूँ मैं तुम्हारी रागिनी भी हूँ।
नींद थी मेरी अचल निस्पन्द कण कण में,
प्रथम जागृति थी जगत के प्रथम स्पन्दन में
प्रलय में मेरा पता पद चिह्न जीवन में,
शाप हूँ जो बन गया वरदान बन्धन में,
कूल भी हूँ कूलहीन प्रवाहिनी भी हूँ।[3]

रजनी छन्द में ही निबद्ध हैं। पर यह नया छन्द नहीं है। इसका आविष्कार छायावाद के

---

१ आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्दयोजना, पृ० ३००।

२ वही, पृ० २८५।

३, नीरजा, गीत १०

किसी कवि ने नहीं किया है। प्राचीन काव्य में सर्वप्रथम विद्यापति को पदावली में इसकी कतिपय पंक्तियाँ मिलती हैं। जैसे—

दमन कालो कएल जे जन चरन जुगल-बरे।४

दशन कोटि विकास बकिम तुलिन चन्द्रकले।५

सूरदास ने ११ पदों को रचना रजनी छन्द में को है। जैसे—

रही इकटक साँस बिनु, तनु विरह-बिबस भई।

बार बारहि सखि बुलावति, कहा भई दई।

नारि नौमि दसा पहुँची, ह्वै अचेत गई।

स्याम व्याकुल धरनि मुरछे, तिया रोष हुई।६

रजनी के आदि में दो मात्राएँ जोड़कर सूरदास ने एक और नूतन छन्द का निर्माण किया है। जैसे—

सत अज्ञ नाहिन नाम सम, परतीति करि करि करि।

हरिनाम हरिनाकुस बिसार्यौ, उठ्यौ बरि बरि बरि।

प्रह्लाद-हित जिहि असुर मार्यौ ताहि डरि डरि डरि।

गज-गीध गनिका-व्याध के अघ गए गरि गरि गरि।७

हम ने रजनी के प्रारम्भ में दो मात्राएँ जोड़कर इसका नाम मधुरजनी रक्खा है।८ क्योंकि इस लय के किसी छन्द का उल्लेख किसी छन्द शास्त्र में नहीं मिलता। सूर के अतिरिक्त और किसी ने इसका प्रयोग नहीं किया। माधवमालती छन्द भी सूर के पहले और बाद भी—छायावाद के पहले तक—कहीं भी हमारे देखने में नहीं आया। अत इस छन्द का निर्माण भी सर्वप्रथम सूरदास ने ही किया, यह असंदिग्ध है। उन्होंने इसका प्रयोग सूरसागर के केवल एक ही पद में किया है, जिसमें १२ चरण हैं। जैसे—

कृपा-सागर गुननि आगर, दासि दुख दिन ही बहायौ।

भक्त के बस भक्तवत्सल, बिदुर सातू साग खायौ।

---

४. विद्यापति की पदावली बेनीपुरी, पद १४२।

५ वही, पद २३०।

६ सूरसागर ना० प्र० सभा० पद ३३७५।

७ सूरसागर, ना० प्र० सभा, काशी, पद ३०६।

८ देखिये—मेरा शोध प्रबंध—सूर-साहित्य का छन्दशास्त्रीय अध्ययन, पृ० १८५।

मुदित ह्वै गई गौरि मंदिर, जोरि कर बहु विधि मनायौ।
प्रगट तिहि छन सूर के प्रभु, बाँह गहि कियौ वाम भायौ।१
(रेखांकित वर्णों का ह्रस्वोच्चारण अपेक्षित)

संयोग-वियोग दोनों के भावों को प्रकट करने की पूरी क्षमता रखने वाले ऐसे छन्द का आविष्कार कर उन्होंने इस छन्द में केवल एक पद की ही रचना क्यों की? आगे वे इससे विरत क्यों हो गये? यह पद किसी परवर्ती प्रक्षेपककार की कृपा से तो सूरसागर में स्थान नहीं पा गया? इस प्रकार की शंका सहज ही उपस्थित हो सकती है। पर इस प्रकार की शंका एक तो इसी से निर्मूल हो जाती है, कि सूरसागर के संपादक ने ऐसे संदेहास्पद पदों को पहले ही छांट कर परिशिष्ट में रख दिया है। फिर भाषा, भाव प्रसंग आदि पर विचार करने पर भी यह पद सूर का ही प्रतीत होता है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इसका आविष्कार उन्होंने तब किया, जब सूरसागर समाप्तप्राय हो रहा था। इसी से आगे इस छन्द में कहने लायक कोई प्रसंग उन्हें नहीं मिला। यदि यह मान ही लिया जाय कि यह प्रक्षेपककार का प्रमाद है, तो भी इस छन्द की प्राचीनता पर किसी प्रकार की आंच नहीं आती। कम-से-कम छायायुग के पहले तो इसका आविष्कार हो चुका था।

छायावाद के कवियों ने इसी छन्द से प्रेरणा पाकर इस प्रकार के छन्द का प्रयोग किया, यह हम नहीं कह सकते। सूरसागर में यदि ऐसे पद संख्या में अधिक होते, तो शायद इस प्रकार की बात सोची भी जा सकती थी। पर एक पद के बल पर—वह भी उस पद के बल पर जो अब तक छान्दसीय उपेक्षा के अंधकार में पड़ा हुआ था—इस तरह का निष्कर्ष निकालना कथमपि युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। छन्दों के क्षेत्र में इस प्रकार के प्रयोग निरन्तर चलते रहते हैं। इसलिये छायायुग के कवियों ने भी इसका उसी प्रकार (गीतिका के अंत में दो मात्राएं जोड़ कर) निर्माण कर लिया होगा, जिस प्रकार सूरदास ने। अब प्रश्न उठता है कि छायावाद के किस कवि ने इसका सर्वप्रथम प्रयोग किया? पत्र-पत्रिकाओं के इस विस्तृत संसार में इसका उत्तर ढूँढ़ निकालना सरल नहीं। पर जहां तक हमारी जानकारी है, इसका प्रथम प्रयोग महादेवी ने किया है। जैसे—

गूँजता उर में न जाने
दूर के संगीत सा क्या!

---

१ सूरसागर, पद ४७९८।

आज खो निज को मुझे
खोया मिला विपरीत सा क्या ?१०

फिर तो बच्चन ने इस छन्द में अनेक कविताएँ लिखीं। उनके 'मधुकलश' की अधिकांश कविता इसी छन्द में रचित हैं।११ नरेन्द्र शर्मा ने 'प्रवासी के गीत' में इस छन्द का विशद प्रयोग किया।१२ इस प्रकार इस छन्द का इतना प्रचार हुआ कि पुराने कहे जानेवाले कवि भी इसके आकर्षण से बच नहीं सके। मैथिलीशरण और माखनलाल चतुर्वेदी की भी कुछ कविताएँ इस छन्द में देखी जाती हैं। जैसे—

चकित हरिणी-सी न चौंको, निकट आओ, डर नहीं है,
वृषभ वाहन मुण्डमाली वह विकट यह हर नहीं है,
शुद्ध शंकर रूप है यह प्रकट प्रलयकर नहीं है,
शष्प में है वास इसका घोर मरघट घर नहीं है।१३
—मैथिलीशरण।

नाथ मुझसे नेक बोलो, इस जलन में स्वाद क्यों है ?
एक अमर लुभावने से पतन में आह्लाद क्यों है ?
क्यों न फिसलन में पुरानापन कभी आता बताओ ?
और चढ़ने में थकावट का प्रबल अवसाद क्यों है ?१४
—माखनलाल चतुर्वेदी।

हरिऔध ने इसे नहीं अपनाया। किन्तु प्रसाद, निराला और पंत के काव्यों में इसके दर्शन हो जाते हैं। जैसे—

तुमुल कोलाहल कलह में
मैं हृदय की बात रे मन। —प्रसाद।१५

---

१० नीरजा, गीत ७।

११ मधुकलश कवि की वासना, कवि की निराशा, री हरियाली, कवि का गीत, पथभ्रष्ट, कवि का उपहास, माँझी, लहरों का निमंत्रण, मेघदूत के प्रति।

१२ प्रवासी के गीत, पद्य १, ३, ४, ७, ८, १०, ११।

१३ कुणाल-गीत।

१४ कादम्बिनी सं० कपिल और आनंदनारायण शर्मा, भारती भवन, पटना, पृ० १८।

१५ कामायनी निर्वेद सर्ग, पृ० २१६।

उक्त गीत की पाँच पंक्तियाँ ही माधव मालती में निबद्ध हैं। प्रसाद ने इसका प्रयोग अन्यत्र कहीं नहीं किया। निराला ने चार गीतों में इस छन्द का प्रयोग किया है।१६ उदाहरण रूप में निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

ओस के धोये अनामिल पुष्प ज्यों खिल किरण-चूमे,
गंध मुख मकरन्द-उर सानन्द पुर-पुर लोग घूमें।

—गीतिका, गीत ८९

पंत ने 'स्वप्न-देही' शीर्षक कविता इसी छन्द में रची है। जैसे—

स्वप्न देही हो प्रिये तुम
देह तनिमा अश्रु धोई।
रूप की लौ सी सुनहली
दीप में तन के सँजोई।१७

डा० पुत्तूलाल शुक्ल ने इन पक्तियों को अर्द्धसम मनोरमा के उदाहरण में रक्खा है।१८ मनोरमा (भानु के अनुसार मनोरम१९) का निर्माण इसी सप्तक (ऽ।ऽऽ) की दो आवृत्तियों से होता है। मनोरमा के दो चरणों को एक इकाई (एक चरण) मान लेने पर वे दोनों चरण माधवमालती का एक चरण हो जाते हैं। माधवमालती के एक चरण के दो पक्तियों में लिखे जाने के कारण डा० शुक्ल को भ्रम हो गया और उन्होंने दूसरी चौथी पक्तियों की समतुकान्तता के आधार पर इसे अर्द्धसम मनोरमा छन्द मान लिया। पिंगल के 'सममर्द्ध समविषमश्च' अर्थात् जिस छन्द के आधे चरण एक समान हों और आधे एक समान—इस आधार पर भी यह अर्द्धसम छंद नहीं माना जा सकता। वस्तुत पत की 'स्वप्नदेही' कविता माधवमालती में ही निबद्ध है। यह छन्द छाया-काल में इतना प्रचलित हुआ कि उस काल के कवियों में कदाचित् ही ऐसा कोई कवि होगा, जिसने इस छन्द में अपनी कोई कविता नहीं रची हो।

डा० शुक्ल के मतानुसार इसका विकास 'व्योमगंगा' वृत्त से सिद्ध किया जा सकता है, जिसका लक्षण है—तौम्यौगौं व्योमगगा जै,। अर्थात् ऽ।ऽऽ , ऽ।ऽऽ।ऽ।ऽऽ ऽ।ऽऽ। ऐसा

---

१६ गीतिका गीत ८९, बेला गीत ६, ४३, ४६।
१७ स्वर्णधूलि, पृ० ६९।
१८ आधुनिक हिंदी काव्य में छन्दयाजना, पृ० २५५।
१९ छन्द प्रभाकर, पृ० ४८।

उन्होंने मराठी छन्दःशास्त्री माधवराव पटवर्द्धन की छन्दोरचना के आधार पर कहा है (पाद-टिप्पणी से ऐसा प्रतीत होता है)२० किंतु इस गण व्यवस्था का कोई छन्द हमें प्राचीन छन्दः-शास्त्रियों के यहाँ नहीं मिला। भानु ने भी ऐसे किसी छन्द का उल्लेख नहीं किया है। संभव है, इस व्योमगगा का आविष्कार पटवर्द्धन ने ही किया हो। अत: माधवमालती का विकास-सूत्र उसी चचरी (र स ज ज भ र)२१ छन्द में देखना पड़ेगा, जिसका पिंगल ने विबुधप्रिया के नाम से—

विबुधप्रिया रसौ जौ भरौ वसुदिश ।२१

जयकीर्ति ने मालिकोत्तर मल्लिका के नाम से—

मालिकोत्तरमल्लिका रसजाज्भरैश्च गतागता ।२२

और हेमचन्द्र ने उज्ज्वल के नाम से—

रसौ जौ भावुज्ज्वल जै ।२३

उल्लेख किया है, और जिसका मात्रिक रूप गीतिका है।

जिस प्रकार गीतिका के अंत में एक गुरु जोड़ देने से माधवमालनी बन जाती है, उसी प्रकार माधवमालती के आदि के दीर्घ को निकाल कर एक नये छन्द का आविष्कार आधुनिक युग में कर लिया गया है। २६ मात्रापादी इस छन्द का प्रयोग दिनकर ने अपनी 'दिगम्बरी' कविता में किया है, और इसी लिये डा० शुक्ल ने इसे दिगम्बरी नाम से अभिहित किया है।२४ दिनकर का यह छन्द इस प्रकार है—

तिमिर के भाल पर चढ़ कर विभा के बाण वाले।
खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियानवाले।
प्रतीक्षा है सुनें कब व्यालिनी फुकार तेरा।
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा।२५

डा० शुक्ल के अनुसार यह छन्द सप्तक (ISSS) की तीन आवृत्तियों और यगण (ISS) के योग से बनता है। उर्दू में यह बहर अधिक प्रयुक्त होती है, पर हिन्दी में यह नवीन

---

२० आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० ३००।

२१ छन्दःशास्त्रम् ८।१६।

२२ छन्दोनुशासन २।२२०।

२३ छन्दोनुशासन २।३१३।

२४ आ० हि० का० में छन्दयोजना, पृ० २९४।

२५ हुंकार, पृ० २४।

प्रयोग है। उर्दू में इसका वजन 'मफाईलुन, मफाईलुन, मफाईलुन फ़ऊलुन' है। यह अवश्य नवीन प्रयोग है। इस लय का छन्द न तो प्राचीन छन्द परम्परा में मिलता है, और न आधुनिक छन्दशास्त्रों में। दिनकर ने उर्दू से प्रभावित होकर यह प्रयोग किया हो, यह भी संभव है। पर गीतिका से भी इसके विकास की सभावना कम 'सन्तोषप्रद नहीं। गीतिका के प्रारंभिक दीर्घ को हटाकर अत में दो मात्राएँ जोड़ देने से दिगम्बरी छन्द बन जाता है। किंतु, यह माधवमालती के समान लोकप्रिय नहीं हो सका। रामानन्द तिवारी के 'पार्वती' काव्य में इसका प्रयोग अवश्य हुआ है।२६ जैसे—

हिमालय के निविड़ एकान्त औ सूने विजन में,
चतुर्दिक अद्रि शिखरों से घिरे दुर्गम्य वन में
समाहित योग को सम भूमिका-से भूमितल में,
बना था एक आश्रम अगम अद्‌भुत पुण्य स्थल में।

इन पंक्तियों के लेखक ने भी अपने खण्डकाव्य 'सावित्री में इस छन्द का प्रयोग किया है।२७ जैसे—

सती का तेज फैला, या शशी की रश्मि सरसी ?
सती के सिर अमर गण की सुमन की अवलि बरसी ?
धरा से स्वर्ग तक क्या यह सती-यश की कहानी ?
धुली क्या शौच में जग-कालिमा युग की पुरानी।

माधवमालती के समान इसके लोकप्रिय नहीं होने का कारण यह हो सकता है कि गीतिका के अत में दो मात्राए जोड़ देने पर—अत में दो गुरु हो जाने पर माधवमालती का अत कुछ ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर देता है कि सयोग का हर्ष उल्लास मानो पाठकों को घेर कर अपनी उछल-कूद से आनन्द विभोर कर देता है और वियोग का विरह विषाद दो गुरु के सहारे हाहाकार कर पाठकों के हृदय को आलोड़ित कर डालता है। माधवमालती के समान दिगम्बरी का अत भी दो गुरु में होता है, इसके साथ भी वही बात होनी चाहिये थी। पर प्रारंभिक दो मात्राओं के त्याग से इसकी गति में कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसे दो मात्रा-रूप पुराने पखों को झाड़ कर भाव एक ही झपट्टे में पाठक के पास पहुँच जाना चाहता हो। क्योंकि दो मात्राओं के त्याग से इसके सप्तक का ढंग बदल जाता है, वह SISS को जगह ISSS हो

---

२६ पार्वती कुमार-दीक्षा पृ० ३०९
२७, सावित्री सर्ग ८, पृ० ११२ ११५

जाता है। फलत इसकी गति में मथरता की जगह थोड़ी त्वरा आ जाती है। इस त्वरा के कारण इसमें वह गरिमा नहीं रह पाती, जो माधवमालती को सहज प्राप्त है। इसीसे यह सयोग-वियोग की बातों से पराङ्मुख होकर इतर भावों की अभिव्यजना में अपनी कृतकार्यता दिखाता है।

इसके विशेष लोकप्रिय नहीं होने का कारण हमारे विचार में इसका पाद-गत सगठन भी है। इसके चरण के प्रारभ में एक लघु अनिवार्यत होना चाहिये। यह अनिवार्यता कवि के स्वच्छन्द भावों पर अंकुश का काम करती है। आदि में त्रिकल रखने वाले छन्दों में इतनी स्वच्छन्दता तो है कि कवि चाहे तो नगण (।।।) रख सकता है, चाहे ऽ। या ऽ। इसी कठिनाई के कारण कदाचित् ऐसे छन्दों का प्रयोग कवियों द्वारा कम हुआ है। इसी सप्तक (।ऽऽऽ) के आधार पर चलने वाले हिन्दी में दो प्रसिद्ध छन्द हैं—विधाता और सुमेरु। इसी सप्तक को चार आवृत्तियों से विधाता का निर्माण होता है। या यों कहा जाय कि विधाता के अंतिम दीर्घ को हटा देने से दिगम्बरी छन्द बन जाता है। विधाता के अंतिम दीर्घ को निकाल कर ही दिनकर ने इसका आविष्कार किया हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि विधाता पुराने कवि नाथूराम शंकर शर्मा द्वारा भी प्रयुक्त हुआ है[२८] और इस युग में अचल के काव्य में भी यह पाया जाता है। जैसे—

> बहे कुछ देर मेरे कान में गूँजे तुम्हारा स्वर,
> बहे प्रति रोम से मेरे सरस उल्लास का निर्झर।
> बुझा दिल का दिया शायद किरण सा खिल उठा जलकर,
> ठहर जाओ घड़ी भर और तुमको देख ले आखें।[२९]

सुमेरु भी इसी सप्तक (।ऽऽऽ) की दो आवृत्तियों और यगण (।ऽऽ) के योग से बनने वाला १९ मात्राओं का छन्द है। इसका प्रयोग साकेत[३०] और रश्मिरथी[३१] में विशद रूप से हुआ है। जैसे—

> जहाँ अभिषेक-अम्बुद छा रहे थे,
> मयूरों से सभी मुद पा रहे थे,

---

२८ देखिये—अनुरागरत्न नाथूरामशकर शर्मा, रुद्रदण्ड, पृ० ४३, प्रचण्ड प्रणपचदशी, पृ० १८४।

२९ आ० हि० का० में छन्द योजना, पृ० २११ से उद्धृत।

३० साकेत सर्ग ३।

३१ रश्मिरथी सर्ग ७ (अतिम अश)।

कहाँ परिणाम में पत्थर पड़े यों,
खड़े ही रह गये सब थे खड़े यों। —साकेत।

* *

हृदय का निष्कपट, पावन क्रिया का,
दलित तारक, समुद्धारक त्रिया का,
बड़ा बेजोड़ दानी था, सदय था,
युधिष्ठिर! कर्ण का अद्भुत हृदय था। —रश्मिरथी।

समप्रवाही सार, सरसी आदि तथा सप्तक (SISS) के आधार पर चलने वाले गीतिका, हरिगीतिका आदि की अपेक्षा विधाता, सुमेरु आदि का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इसी सप्तक की तीन आवृत्तियों से सिन्धु छन्द बनता है, जिसका प्रयोग साकेत के निम्न पद्य में हुआ है—

वचन पलटें | कि भेजें रा | म को वन में |
उभय विधि मृत्यु निश्चय जान कर मन में,
हुए जीवन मरण के मध्य भ्रूल से वे,
रहे बस अर्द्धजीवित, अर्द्धमृत से वे।[३२]

डा० शुक्ल ने उक्त पद्य में 'प्रवासी' छन्द मानकर छन्दों की संख्या में व्यर्थ वृद्धि की है। यह स्पष्टत भानु का सिन्धु छन्द है। यथा—

लखौ त्रय लो | क महिमा सि | धु की भारी।[३३]

फिर इसी प्रकार 'जय भारत' के 'तीर्थयात्रा' में प्रयुक्त छन्द को 'प्रवासी (सिन्धु) बतलाना भी भ्रमपूर्ण है।[३४] जयभारत की निम्नांकित पंक्तियाँ—

आर्य, अर्जुन के बिना सब रिक्त सा है,
काल कटु था ही, अधिक अब तिक्त सा है।
हाय! जैसों के लिये वैसे न होकर,
आज हम ऐसे हुए सर्वस्व खोकर।[३५]

---

३२ साकेत सर्ग २, पृ० ५२।
३३ छन्द प्रभाकर, पृ० ५९।
३४ आ० हि० का० में छन्द योजना, पृ० २८२।
३५ जय भारत मैथिलीशरण (तीर्थयात्रा) पृ० १५५।

पीयूषवर्षी के अंत में दो मात्राएँ (दो लघु अथवा एक गुरु) जोड़कर बनी हैं। इसी लय-वाली निम्न पंक्तियों को—

> क्या नहीं नर ने इसे रौरव बनाया,
> क्या न हमने स्वर्ग है इस पर बसाया।

आधुनिक युग में सिन्धु का प्रयोग SISS के आधार पर मान कर सिन्धु छन्द बतलाना भी समीचीन नहीं।३६ वस्तुत यह नवीन छन्द है और पीयूषवर्षी के आधार पर इसका नाम पीयूषनिर्झर या पीयूषधारा रक्खा जा सकता है।

इस सप्तक (ISSS) के आधार पर चलने वाले समस्त छन्दों का विकास प्राचीन परम्परा में प्राप्त वृद्धि (ISSS—य ग) नामक चतुराक्षर छन्द से माना जा सकता है। इस वृद्धि का सर्वप्रथम उल्लेख जयकीर्ति के ग्रंथ में मिलता है।३७ हेमचन्द्र इसी को व्रीड़ा कहते हैं।३८ यही व्रीड़ा भिखारीदास और भानु के यहाँ क्रीड़ा बन गई।३९ इस व्रीड़ा या क्रीड़ा की चार आवृत्तियों से विधाता छन्द बनता है, जिसकी ओर भानु ने भी संकेत किया है। चार चार आवृत्तियों से एक दीर्घ हटा देने पर दिगम्बरी छन्द, तीन आवृत्तियों से सिन्धु छन्द, तीन आवृत्तियों से एक दीर्घ निकाल लेने पर सुमेरु४० छन्द और दो आवृत्तियों से विजात४१ छन्द (इसी का नाम डा० शुक्ल ने विधाताकल्प दिया है)४२ बन जाते हैं। इस प्रकार इन सभी छन्दों का संबंध संस्कृत की प्राचीन छन्द परम्परा से जुट जाता है।

---

३६ आ० हिं० का० में छन्दयोजना, पृ० २८२।
३७ छन्दोनुशासन— यगौ वृद्धि २।१७।
३८. छन्दोनुशासन— यगौ व्रीडा २।२०।
३९ छन्दार्णव १०।१७। छन्द प्रभाकर, पृ० ११८।
४० छन्दःप्रभाकर, पृ० ५५।
४१ वही, पृ० ४६।
४२. आ० हिं० का० में छन्दयोजना, पृ० २५६।

ग्रंथ समीक्षा

मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन— लेखक— क० अहमद, अनु० प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रकाशक, भारती भवन, पटना—१, पृ० सं०—१६२, मूल्य ६ रुपये, १९६९ ई० ।

मनोविश्लेषण को ध्यान में रखकर साहित्य और कला की आलोचना ने बीसवीं शताब्दी में एक महत्त्व का स्थान ले लिया है। थियोडोर लिप्स् जैसे अन्तर्दर्शी मनोविज्ञान के पंडितों तथा मनोविकृतियों को लेकर परीक्षण करने वाले मनोविश्लेषण के उन्नायक सिगमंड फ्रायड, और उनके सहयोगी एवं शिष्य अल्फ्रेड ऐडलर तथा कार्ल युग के प्रयत्नों ने कला और साहित्य को एक विशेष दृष्टि से देखने अथवा उनकी मूल प्रेरणाओं को छानबीन की ओर आलोचकों का ध्यान आकृष्ट किया। वैसे अभी तक मनोविश्लेषण को ध्यान में रखकर कला और साहित्य के जो अध्ययन प्रस्तुत किए गए हैं उनमें अधिकांश में दो ही बातें देखने को मिलती हैं (१) कृतियों के आधार पर कृतिकारों का मनोविश्लेषणात्मक विवेचन (२) कृतियों का पाठकों पर पड़नेवाले प्रभावों का परीक्षण, दूसरे शब्दों में अध्येताओं का मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन।

साहित्यिक तथा कलाकृतियों के अध्ययनमें मनोविज्ञान अथवा मनोविश्लेषण की पद्धति कहाँ तक सहायक सिद्ध हो सकती है इसे लेकर बहुत मतभेद है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज समालोचक हर्बर्ट रीड, जिसकी साहित्य और कला में समान गति है, मनोविश्लेषण की पद्धति को साहित्य की समालोचना में एक महत्त्व का स्थान देता है। उसका कहना है कि कवि के व्यक्तित्व, काव्य के शिल्प और कविता के रसग्रहण से सम्बद्ध अनेक समस्याओं की उचित व्याख्या इस पद्धति से संभव है। रिचर्ड मार्च मनोविश्लेषण के इस दावे को स्वीकार नहीं करता।

प्रो० कलीमुद्दीन अहमद ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'साइको-अनैलिसिस एण्ड लिटररी क्रिटिसिज्म' में इस समस्या पर बड़ी गहराई से विचार किया है। साहित्यालोचन के क्षेत्र में मनोविश्लेषण को अधिक महत्त्व देने के पक्ष में वे नहीं हैं। उनकी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा ने किया है। अनुवाद की भाषा अत्यन्त सहज और सरस है और इस दृष्टि से इस प्रकार के अन्य अनुवादों या हिन्दी में ऐसे विषयों पर लिखे गए ग्रन्थों से 'मनोविश्लेषण और साहित्यालोचन' अलग पड़ जाता है। ग्रन्थ को और भी सुबोध और उपयोगी बनाने के लिये प्रो० शर्मा ने एक सुंदर भूमिका 'पुरोवाक्' शीर्षक से दे दी है।

प्रो० अहमद को मान्यता है कि भले ही साहित्य और कला का आलोचक मनोविश्लेषण से लाभ उठावे लेकिन उसे आलोचना का मानदंड नहीं स्वीकार किया जा सकता। अपने मत के समर्थन में उन्होंने तर्क उपस्थित किए हैं तथा अन्य विदेशी विद्वानों के मत को उद्धृत किया है। पुस्तक की ग्रन्थ सूची पर दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने कितनी व्यापक दृष्टि से इस विषय पर विचार किया है। विषय-सूची में अन्तर्भूत कुछ शीर्षक यों हैं (क) मनोविश्लेषण और कला (ख) प्रतिभा और उन्माद (ग) वैयक्तिक प्रतिभा का

मनोविश्लेषणात्मक अध्ययन (घ) मनोविश्लेषण और आलोचना का कार्य (ङ) कलाविषयक सिद्धान्त (च) कलाकार और अचेतन (छ) साहित्यिक मूल्य (ज) साहित्यिक दृष्टि।

प्रो० अहमद के विवेचन और विषय का स्पष्टीकरण अत्यन्त सुन्दर और महत्व के हैं और पाठकों को उनपर विचार करने की प्रेरणा देते हैं। 'प्रेरणा देते हैं' न कहकर यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि उत्तेजित करते हैं। इसे स्वीकार करने पर भी सब समय उनके विचारों से सहमत होना कठिन है। उदाहरण स्वरूप प्रो० अहमद का कहना है कि "मनोविज्ञानी प्राय यह भूल जाता है कि सभी मानवीय संवेग कवि के सामने केवल अनगढ़ वस्तु के रूप में आते हैं जिनपर वह नूतन भंगिमा या कलात्मक रूप आरोपित करता है। यह आवश्यक नहीं कि वह सदा अपनी व्यक्तिगत अनुभूति को ही हमारे सामने अभिव्यक्त करे" (पृ० ७४) स्वच्छन्दतावादी कवियों और विचारकों ने कविता को मानव मन की उच्चतम अवस्था का क्रिया कलाप माना था। अगर उदात्ततम शब्द का प्रयोग किया जा सके तो उनके अनुसार यह उदात्ततम मनोदशा की तर्कणा है। इस प्रकार कविता को सत्य से साक्षात्कार का उत्तम सोपान माना गया। लेकिन आजके विचारक साधारणतः यह मानते हैं कि कविता शब्दों के रूप में आदिम अनुभूति है जिसके पूर्व न किसी प्रकार की तर्कणा रहती है और न किसी प्रकार की नैतिकता आदि। आज का विचारक यह मानता है कि दृश्यमान जगत, अर्थात जो कुछ भी हमारे बाहर है, उससे हम प्रभावित होते हैं। इस प्रभाव को ग्रहण करते समय मन उसे एक विशेष रूप देता है जो मनुष्य के लिये सुपरिचित है और उसे अन्त प्रज्ञा अपने भीतर सजो रखती है। अन्तःप्रज्ञा द्वारा संजोई हुई 'वस्तु' को कवि शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्ति देता है और यही कविता है। अन्तःप्रज्ञाएँ चिन्तन का विषय नहीं हैं, वे व्यक्तिनिष्ठ तथा विशेष हैं। कलाकार अथवा कवि अपनी अन्तःप्रज्ञाओं को अभिव्यक्ति देता है और यह अभिव्यक्ति ही कला है। ये अंतःप्रज्ञाएँ सीधे शब्दों द्वारा अभिव्यक्त होती हैं। इनके बनाने सवारने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस अनुभूति की अभिव्यंजना कविता के रूप में हो रही है वह स्वयं-उद्भासित है उसमें किसी प्रकार की तर्क संगति या यौक्तिकता नहीं हैं। इसीलिये कहा जाता है कि कविता अधिक आदिम और सहज है। कवि किसी सत्य को प्रकट करने के व्यापार में नहीं लगा हुआ है और न उसका उद्घाटन कर दूसरों के लिये सुलभ कर देना ही उसकी कविता का उद्देश्य है। उसका कारबार अनुभूतियों को लेकर है। अनुभूतियों का संप्रसारण ही कविता में निहित है और जितनी भी अनुभूतियाँ हैं वे अपने आप में अपना महत्त्व रखती हैं।

संवेगों के अनगढ़ रूप में कवि द्वारा गृहीत होने की बात को भी स्वीकार करना कठिन है। प्रयोगात्मक मनोविज्ञान ने यह स्पष्ट रूप से दिखला दिया है कि चेतना के निम्नतम स्तर पर सर्वदा चुनाव की प्रक्रिया चलती रहती है। मूल्यांकन और चुनाव की प्रक्रिया का परिणाम यह देखने को मिलता है कि कानों के पर्दे पर आनेवाली न सभी ध्वनियों को हम सुनते हैं और न आँखों के सामने गुजरने वाली सभी वस्तुओं को ही हम देखते हैं। हम उन्हीं ध्वनियों को सुनते हैं और उन्हीं वस्तुओं को देखते हैं जिन्हें हम सुनना या देखना चाहते हैं। अतएव

यह कहा जा सकता है कि कविता की भाषा वह भाषा है जो अनुभूति के वैशिष्ट्य को एक विशेष संवेदनशीलता की शब्दावली में अभिव्यक्त कर रही है।

इसी प्रकार काव्य में सौन्दर्य-संबंधी प्रो० अहमद द्वारा प्रकट किए गए विचारों से सब समय मतैक्य होना संभव नहीं। सौन्दर्य और इसके साथ ही मूल्यों संबंधी जो मत इस पुस्तक में व्यक्त किए गए हैं उनका भी परीक्षण आवश्यक है। सौन्दर्य की परिभाषा युग-सापेक्ष होती है अतएव सौन्दर्य पर आधारित मूल्यों को भी सापेक्ष दृष्टि से ही ग्रहण किया जाना चाहिए। आधुनिक सौन्दर्यशास्त्री की दृष्टि में सौन्दर्य तर्कसंगत नहीं होता, उसमें यौक्तिकता नहीं होती फिर भी किसी कलाकृति में बौद्धिकता की छाप देखी जा सकती है। रूप सृष्टि में अनुपात और सामंजस्य की जो छाया देखने को मिलती है वह बौद्धिक-प्रक्रिया का फल है। आज का कलामर्मज्ञ कलाकार को इनसे बचने का उपदेश देता है कि जान-बूझकर वह इन का समावेश न करे अगर वे स्वयं आ जायें तो आ जायें। कभी-कभी तो सौन्दर्य के स्थान पर ऊर्जा, प्राणवत्ता को महत्त्व देने की सलाह दी जाती है। अतएव कलाकृतियों या कविता के मूल्यांकन के लिये सौन्दर्य को विशिष्टता प्रदान करना आवश्यक नहीं समझा जाता है।

साहित्य के विद्यार्थियों के लिये यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है। इस पुस्तक के प्रकाशन से हिन्दी आलोचना साहित्य की श्री-वृद्धि ही हुई है।

—रामपूजन तिवारी

आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार ग्रंथसूची—भाग—१, संपादक—डा० नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक—आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भंडार, लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर—३, पृ० सं० ४६ + ४७४, मूल्य २५ रुपये।

प्रस्तुत ग्रंथसूची में ३७१० रचनाओं का विवरण दिया गया है। विषय के अनुसार रचनाओं को पन्द्रह वर्गों में विभाजित करके प्रत्येक वर्ग की रचनाओं का अकारादि क्रम से परिचय दिया गया है। स्तुति स्तोत्र, कथा काव्यचरित उपदेश नीति-वैराग्य, जैन-आगम, प्रकरण, मंत्र तंत्र, ज्योतिष, भूगोल गणित, इतिहास, आयुर्वेद, रस, अलंकार, छंद, कोश, व्याकरणादि सभी विषयों से संबंधित कृतियाँ भण्डार में उपलब्ध हैं। भण्डार कितना समृद्ध है यह उसके व्यवस्थापक की इस सूचना से अनुमान लगाया जा सकता है कि '१५००-२५०० ग्रंथों के ऐसे कई भाग प्रकाशित करने की हमारी योजना है।' प्रतियों के संबंध में दिए गए विवरण में रचयिता का नाम कृति का रचनाकाल, रचनास्थल, लिपिकार, लिपिकाल, लिपि-स्थल, रचना की भाषा, आकार तथा परिमाण की सूचनाएँ दी गई हैं। कृति के अंत में आठ उपयोगी परिशिष्ट दिए हैं जिनमें ग्रन्थकारों की नामानुक्रमणिका, लिपिकारों की नामानुक्रमणिका रचनास्थल-नामानुक्रमणिका, लिपिस्थल नामानुक्रमणिका, तथा कुछ महत्त्वपूर्ण प्रशस्तियां दी गई हैं।

राजस्थान में हस्तलिखित प्रतियों के समृद्धतम भण्डार हैं। प्रस्तुत भण्डार भी पर्याप्त सम्पन्न है। ग्रंथ सूची में संस्कृत की पुस्तकें बहुत कम हैं, जैनागमों को छोड़कर प्राकृत भाषा-निबद्ध ग्रंथ भी बहुत ही थोड़े हैं। बहुसंख्यक ग्रंथ मध्ययुगीन रचनाएँ हैं और वे स्थानीय भाषा की विशेषताओं के साथ ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। अंत में दी हुई प्रशस्तियों में प्राप्त पुष्पिकाओं में कुछ ग्रंथों को प्राकृत निबद्ध कहा गया है यथा—चंदचरित्र की पुष्पिका में कहा गया है, "इति श्री मोहन विजय विरचिते चंद चरित्रे प्राकृत प्रबंधे चंद प्रकट'—किन्तु अंतिम प्रशस्ति प्राकृत में नहीं है। आगमादि को छोड़कर सबसे बड़ी प्राकृत कृति उपदेशमाला प्रकरण (५४४ गाथा) है—दुर्भाग्य है कि उपदेशमाला के रचयिता का नाम प्रस्तुत सूची में नहीं दिया गया। धर्मदास गणि की उपदेशमाला में भी ५४४ गाथाएँ हैं, जो प्रकाशित है। ग्रंथसूची में अपभ्रंश की भी किसी कृति का उल्लेख नहीं है। सबसे प्राचीन हिंदी रचना कदाचित् संवत् १५९७ की साधुकीर्ति पाठक कृत 'जिनकुशलसूरि दादाजी स्तवन' है। सत्रहवीं शती पूर्वार्द्ध की अनेक कृतियां हैं, किन्तु अधिक रचनाएँ अठारहवीं शती की हैं। कुछ रचनाएँ गद्य में भी हैं। ज्ञात हिंदी कवियों में कबीर के पदों के कुछ संग्रहों का उल्लेख मिलता है। तुलसी नामक एक कवि की 'सीताजी की सज्झाय' तथा वल्लभाचार्य की हिंदी रचनाओं के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं।

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य से संबंधित प्रचुर सामग्री का परिचय प्रस्तुत ग्रंथसूची से मिलता है। अनेक प्रतियों की प्रशस्तियों में रचनाकाल, रचयिता, तत्कालीन शासकादि के परिचय दिए गए हैं। लिपिकारों ने भी कुछ पुष्पिकाओं में पूर्ण परिचय दिए हैं। इतिहास की दृष्टि से और विशेषकर हिन्दी साहित्य के इतिहास की दृष्टि से ये सूचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं। जैन मुनि वर्षाऋतु को छोड़कर भ्रमण किया करते थे, वे ग्रंथ भी लिखते थे। लिपिस्थल से संबंधित नामानुक्रमणिका को देखने से ज्ञात होता है कि देश के सुदूर भागों में लिखी गई हस्त-लिखित प्रतियां ज्ञानभण्डार में सुरक्षित हैं। अम्बाला, अहमदाबाद, आगरा, उज्जैन, कानपुर, फर्रुखनगर, मोरवी, वाराणसी, लश्कर, हाथरस, होशियारपुर, नगरों के नाम विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त अधिकांश प्रतियां राजस्थान में ही लिपिबद्ध हुई हैं। ग्रन्थसूची बड़े परिश्रम से तैयार की गई है, हमें विश्वास है शोधकर्ता विद्वान इससे लाभान्वित होंगे और अन्य भागों के प्रकाशन की प्रतीक्षा में रहेंगे। ज्ञान भण्डार के अधिकारियों के शुभप्रयास की सफलता के लिए हम शुभकामना करते हैं। छपाई और जिल्द बंधाई में असावधानी के उदाहरण के रूप में कृति के अंत में दिया शुद्धिपत्र तथा समालोचना के लिए प्रेषित प्रति में पृ० २७३—८० का दो बार बांध देने का उल्लेख करना पर्याप्त होगा।

पट्टावली प्रबंध संग्रह—संकलयिता व संशोधक—आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज, सम्पादक —डा० नरेन्द्र भानावत, प्रकाशक—जैन इतिहास निर्माण समिति, जयपुर, १९६८, पृ० सं० ३७२, मूल्य १० रुपया।

जैन धर्म के दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के स्थविर, यति, आचार्यों की जीवनियां, सूचियां उपलब्ध हैं। प्राचीन गुरु-परंपरा का परिचय स्थविरावलियों में मिलता है। 'पट्टावली' या 'गुर्वावली' शीर्षक-रचनाओं का प्रकाशन महत्त्वपूर्ण है। जैन धर्म की दोनों शाखाओं में अनेक उपशाखाएँ हैं। सामान्य रुचि रखनेवाले पाठक (जैन भी) इन शाखाओं के इतिहास से परिचित नहीं हैं, किन्तु इनका इतिहास अत्यत रोचक है। प्रस्तुत 'पट्टावली' में श्वेताम्बर संप्रदाय की दो उपशाखाओं से संबधित पट्टावलियां सग्रहीत हैं। पट्ट शब्द गुरु का पर्यायवाची है जो पट्ट प्राप्त कर चुका हो या जो गुरु की गद्दी पर आसीन हो गया हो वह पट्टधर कहलाता है, सभी धर्मों के अनुयायियों ने अपनी गुरु-परपरा का उल्लेख किया है। इन नामावलियों में परपरा और इतिहास दोनों का समावेश रहता है अत इतिहास और पुराण के अ श को अलग करना कठिन कार्य है। प्रस्तुत पट्टावली सग्रह में लौंकागच्छ तथा स्थानकवासी शाखाओं से संबंधित पट्टावलियाँ हैं। लूकाशाह विक्रम की सोलहवीं शती में हुए। वे समृद्ध गृहस्थ थे, पीछे दीक्षा लेकर वे मुनि हो गए। शास्त्रोद्धार में उनकी रुचि प्रारभ से ही थी। कहा जाता है कि वे अहमदाबाद के निवासी थे। उन्हीं के नाम पर 'लौंकागच्छ' प्रचलित हुआ। लौंकागच्छ से संबंधित सात पट्टावलियां प्रथम बार प्रस्तुत संग्रह में प्रकाशित हो रही हैं और स्थानकवासी शाखा की दस पट्टावलियां। पट्टावलियों में से प्राय सभी में महावीर के पश्चात् हुए आचार्यों के नाम मिलते हैं। ये नाम परपरागत हैं। इसके पश्चात् कई सौ वर्षों का व्यवधान आता है। और फिर मध्ययुग से पट्टावली आरंभ होती है। उदाहरण के लिए—प्रथम पट्टावली प्रबन्ध में तेईस सौ वर्ष की घटनाओं की चर्चा करके लौंकागच्छ की उत्पत्ति तथा पट्टधरों का उल्लेख किया गया है। पट्टावली की रचना स० १८९० में की गई। स्पष्ट है कि उसमें दिए गए विवरण को ऐतिहासिक दृष्टि से सटीक नहीं माना—जा सकता। पट्टावलियों में कहीं-कहीं परपरागत प्रसिद्ध घटनाओं के भी उल्लेख मिलते हैं। यथा—मेवाड़ पट्टावली में कालकाचार्य गर्दभिल्ल, शकराज का प्रसंग ऐतिहासिक हो सकता है, सस्कृत और प्राकृत में लिखित कालकाचार्य कथानकों में इस प्रकरण की विस्तार से चर्चा की गई है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे प्रकरणों में कोई नवीन बात नहीं है। संग्रहीत पट्टावलियां प्राचीन इतिहास की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। जैन धर्म की परवर्ती उपशाखाओं की दृष्टि से इनका महत्त्व है। प्रसंगवश भी ऐसे तथ्यों का उल्लेख नहीं के बराबर है जो भारत की तत्कालीन परिस्थिति पर कुछ प्रकाश डाल सकें।

कुछ पट्टावलियाँ संस्कृत तथा हिन्दी पद्य में लिपिबद्ध हुई हैं, अधिकांश राजस्थानी गद्य में है। गद्य के अध्ययन के लिए ये महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती हैं। कृति के अत में

अनेक परिशिष्ट दिए गए हैं जिनमें लोंकाशाह से संबंधित पट्ट वृक्ष, भगवान् महावीर के बाद की प्रमुख घटनाओं की सूची, पट्टावली की प्रतियों का विवरण, पट्टावलियों में प्राप्त आचार्य, मुनि, राजा, श्रावकों की सूची, ग्राम-नगरादि की सूची, गण-गच्छ शाखादि की सूची, प्रस्तुत की गई हैं।

जैन धर्म की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं के अध्ययन के लिए पट्टावली प्रबंध संग्रह महत्त्वपूर्ण है।

अक्षर अनन्य (जीवनी, साधना सिद्धान्त एवं ग्रन्थावली)—संपादक—अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव, प्रकाशक—मध्यप्रदेश शासन साहित्य-परिषद्, भोपाल, पृ० सं० ५४०, १९६९ ई०, मूल्य—पन्द्रह रुपये।

संत अक्षर अनन्य का जन्म विक्रम की अठारहवींशती के पूर्वार्द्ध में हुआ। मध्यप्रदेश में दतिया के समीप सेंवढ़ा ग्राम के जागीरदार श्रीपृथ्वीसिंह 'रसनिधि' अक्षर अनन्य के भक्त थे। उन्हें वे शिष्यवत् मानते थे। सेंवढ़ा में सिंधु नदी के तटपर अक्षर अनन्य बहुत वर्ष रहे और अपनी अधिकांश कृतियों की रचना उन्होंने वहीं रहकर की। अक्षर अनन्य का जन्म स्थान ओरछा था। अक्षर अनन्य पर महाराज छत्रसाल की बड़ी श्रद्धा थी। छत्रसाल तथा अक्षर अनन्य में सैद्धान्तिक प्रश्नों पर पत्रव्यवहार होने का विवेचन कृति की भूमिका में विस्तार से किया गया है। अक्षर अनन्य की प्राप्त सभी कृतियों को एकत्र प्रकाशित करने का यह प्रथम प्रयास है। इसके पूर्व अक्षर अनन्य की कुछ कृतियाँ काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित की थीं, कुछ हिन्दुस्तानी एकेडेमी—इलाहाबाद ने। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन द्वारा एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कार्य पूरा हुआ है।

अक्षर अनन्य संत कवि सुंदरदास के समान विद्वान् संत थे। अन्य संतों से दूसरी भिन्नता उनमें यह मिलती है कि उनको साधनापद्धति शाक्त-आगमों तथा तान्त्रिक साधना-पद्धति का समर्थन करती है। कुछ संतों ने वेदादि में विशेष आस्था तो प्रकट नहीं की उलटे खंडन किया है। अक्षर अनन्य की कृतियों में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति नहीं मिलती। उनका व्यक्तित्व अत्यंत शिष्ट, संयत और मर्यादापूर्ण था। माया की संतों ने बहुत निन्दा की है, यद्यपि उसके निश्चित स्वरूप का वर्णन कम किया है। अक्षर अनन्य के विचार से माया भक्त की कुछ हानि नहीं कर सकती। ब्रह्म और माया में वे भेद नहीं मानते। कुछ रचनाओं को छोड़कर उन्होंने अपनी कृतियों में क्रमबद्ध विषयविवेचन किया है। सभी कृतियों में प्रायः तत्त्व निरूपण की ही प्रधानता है—कृतियों के नाम से ही इसकी सूचना मिल सकती है, यथा—उपासना बोध, ज्ञान पचासिका, ज्ञान तरंग, विवेक तरंग, ज्ञानयोग,

सिद्धान्त बोध, अनन्य प्रकाश, शिवशक्ति-पचीसी, वैराग्य तरंग, भक्ति-भावना, उत्तर-मालिका, गणेशाष्टक, भवानी-स्तोत्र, प्रेम दीपिका, महिमा-समुद्र, उत्तम चरित्र, साखी, निरधार शतक, हरिहर-संवाद, अष्टांग योग। संत काव्य की सभी प्रवृत्तियों के दर्शन अक्षर अनन्य के काव्य में होते हैं—संतों की एक विशेषता अपने सिद्धान्तों के विवेचन के लिए शृंगारपरक अप्रस्तुत विधान के प्रयोग की है—अक्षर अनन्य की शृंगार योग नामक रचना इस प्रवृत्ति की दृष्टि से उल्लेख योग्य है। इस प्रवृत्ति का स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं —

सगुन प्रीति ससार नर, निगुन न समुझत मूढ़।
तातैं मिस सिंगार के, कहौं ग्यान गति गूढ़॥

'महिमा समुद्र' कदाचित् सबसे बड़ी रचना है। कृति में शिव-शक्ति की महिमा का वर्णन है। कथा का आधार शिवपुराण का काशीखण्ड है। 'महिमा-समुद्र' प्रबन्धात्मक रचना है। इसमें नाना छन्दों का प्रयोग हुआ है—कवि ने भाषा में रचना करने तथा नाना छंदों के प्रयोग करने के प्रसग में संकेत किया है —

भाषा बानि सुहावनी, सुन्दर छंद कवित्त।
पढ़त गुनत सीखत सुनत, अटकत सब के चित्त॥
चित्त लगैं पद अपद कौ, भाषा सुनहु सुजान।
चलत न कलिजुग संसकृत, बिद्या जुगहु प्रमान॥

अक्षर अनन्य जागरूक प्रबुद्ध महात्मा थे। पूर्ववर्ती तथा अपने समय की स्थिति का उन्हें ज्ञान था। सत महात्माओं की खण्डनात्मक प्रवृत्ति का उन्होंने स्वय तो अनुकरण किया ही नहीं, अपितु उसकी स्तुति भी नहीं की। उन्हें अनेक साधु भी साधुचरित नहीं मिले और अनेक साधु वास्तव में 'पहुँचे हुए' भक्त थे किन्तु उनकी प्रतिष्ठा नहीं होती थी— खीझ कर 'अनन्य' कहते हैं :—

दुनी के सठनि सौं बसात न 'अनन्य' मनै,
निंदा एक साधुनि साथैं ही रहत हैं॥

और, 'बगुला ध्यानी' 'निगुरा गुरुओं' के भी संबंध में उन्होंने लक्ष्य किया था :—

बिरले पुरुष मन मारिकैं भगति करैं,
जिन्हैं एक धनी को भजन मनभावहीं॥

शुष्क उपदेश प्रधान रचनाओं की 'अनन्य' की कृतियों में भरमार है तथापि सुन्दर सजीव काव्य के भी अनेक उदाहरण उनकी कृतियों में मिलते हैं।

'अष्टांग योग' रचना गद्य में है। इसमें योग की सरल व्याख्या की गई है।

ग्रंथावली के सपादक श्री अम्बाप्रसाद श्रीवास्तव अक्षर अनन्य के वंशज हैं। अक्षर अनन्य इतने पुराने कवि नहीं हैं, इसलिए संभव है उनकी कृतियों की हस्तलिखित पोथियों में पाठभेद न हुए हों फिर भी संपादन के लिए जो प्रतियाँ उन्हें मिली होंगी उनका कुछ विस्तार के साथ उल्लेख करना चाहिए था। उनकी भूमिका में अक्षर अनन्य के संबंध में सभी ज्ञातव्य बातें मिलती हैं। अक्षर अनन्य के जन्म-जीवन, कृतियाँ, साधना-पद्धति पर

उन्होंने विस्तार से प्रामाणिक प्रकाश डाला है। क्योंकि वे कवि के वंशज हैं अतः सभी संतों की तुलना में अक्षर अनन्य को 'श्रेष्ठतम' सिद्ध करने की उनकी आकांक्षा पर हमें ध्यान नहीं देना चाहिए।

ऐसे महत्त्वपूर्ण कवि और विचारक की कृतियों के प्रकाशन के लिए मध्यप्रदेश शासन-साहित्य परिषद् की हम प्रशंसा करते हैं। हम आशा करते हैं कि परिषद् इस परंपरा को और भी प्रशस्त रूप से आगे बढ़ाएगी। साहित्य और संस्कृति के प्रेमी इस कृति का स्वागत करेंगे।

वर्तमान मध्यप्रदेश के बुंदेलखण्ड अंचल के तथा ग्वालियर क्षेत्र के अनेक नगर मध्ययुग में साहित्य और संस्कृति के अच्छे केंद्र रहे हैं। दतिया और ग्वालियर के हस्तलिखित ग्रंथ भण्डारों में अनेक अप्रकाशित दुर्लभ ग्रंथ उपलब्ध हैं। विष्णुदास जैसे कवियों की महत्त्वपूर्ण कृतियों के प्रकाशन से मध्ययुगीन भक्ति काव्य परंपरा को नया प्रकाश प्राप्त होगा। आशा है मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद् अक्षर अनन्य ग्रंथावली के समान अन्य ग्रंथावलियाँ भी प्रकाशित करेगा।

योगालोक (पातञ्जल योगसूत्रों की वृत्ति)—व्याख्याकार—श्री विद्यानंद 'विदेह', प्रकाशक—वेद-संस्थान, बाबू मोहल्ला, अजमेर। पृ० सं० १०६, १९६९ ई०, मूल्य २.५० रुपये।

योगदर्शन की एकाधिक हिन्दी व्याख्याएँ उपलब्ध हैं, उनके रहते हुए भी, मुझे लगता है, 'विदेह' जी के प्रस्तुत संस्करण की आवश्यकता थी। 'विदेह' जी की अवस्था सत्तर वर्ष से अधिक है। वेदों के वे मर्मज्ञ हैं। उनके द्वारा लिखी वेदों की व्याख्याएँ विद्वत्तापूर्ण तथा उपयोगी हैं। योगदर्शन की व्याख्या में उनके स्पष्ट चिंतन, मनन, गंभीर अध्ययन तथा विषय पर अधिकार होने की सूचना मिलती है। व्याख्या की शैली सरल, सहज और पाण्डित्यपूर्ण है। प्रत्येक सूत्र के प्रत्येक शब्द का मर्मार्थ समझाया है और फिर सूत्र में निहित भाव को विस्तार से समझाया है। सूत्र ग्रन्थों तथा भारतीय शास्त्रों में प्रयुक्त शब्दावली ऐसी है कि उसको समझने के लिए ज्ञान और संस्कृति के एक विशेष स्तर की आवश्यकता है। योगदर्शन में भी ऐसे शब्द हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्द कहा जा सकता है। ऐसे गूढ़, विशेष अर्थसंपन्न शब्दों की व्याख्या लेखक ने अपेक्षित विस्तार से की है, जिससे संस्कृत बिल्कुल न जाननेवाला जिज्ञासु भी योगदर्शन जैसे गरिमाग्रंथ के भाव को समझ सकता है। सांस्कृतिक शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से 'विदेह जी का यह कार्य बहुत ही महत्त्व का है।

विदेह जी ने अपने 'आत्मनिवेदन' में कुछ महत्त्व की बातें कही हैं, उनका यह कथन बिल्कुल सही है कि 'योगदर्शन सर्वथा असाम्प्रदायिक ग्रंथ है,' उनका यह कथन भी सही है

कि 'योग किसी जटिल और कृत्रिम अभ्यास का नाम नहीं है, योग तो जीवन की उस पद्धति या शैली का नाम है जो स्वाभाविकतया प्रत्येक मनुष्य की होनी चाहिए'।

योगदर्शन की बड़ी संतुलित और बोधगम्य व्याख्या 'योगालोक' में प्राप्त होती है। किसी संप्रदाय के प्रति उसमें आग्रह नहीं है। सबके लिए योग जैसे कठिन विषय को सुलभ बनाकर विदेहजी ने बड़ा उपकार किया है। ऐसी प्रामाणिक व्याख्याओं के द्वारा भारतीय संस्कृति के आधारभूत ग्रंथों का प्रचार सही ढंग से होगा और उनके विषय में फैली भ्रान्तियाँ दूर होंगी। सभी सुधीजन योगालोक का स्वागत करेंगे।

योगदर्शन में प्राप्त अनेक शब्दों का प्रयोग बुद्ध मतानुयायियों ने भी किया है, किन्तु अर्थ का वहाँ कुछ विस्तार हुआ है। मैत्री, करुणा, मुदिता, क्लेश, समाधि, संवेदन जैसे शब्दों का 'विदेह' जैसे वेद मर्मज्ञ पूरा इतिहास दें तो इस विषय में विशेष रुचि लेनेवालों का लाभ होगा।

—रामसिंह तोमर

सम्पादकीय

खान अब्दुल गफ्फार खाँ की शान्तिनिकेतन यात्रा—

पैंतीस वर्ष पूर्व सितंबर १, सन् १९३४ को खान अब्दुल गफ्फार खाँ शान्तिनिकेतन पधारे थे। उस समय गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने उनका स्वागत करते समय कहा था, "कुछ क्षणों के लिए आप हमारे बीच आए हैं किन्तु उस सौभाग्य को मैं अल्प नहीं समझता। हमारा निवेदन है कि हमारी इस बात को आप अत्युक्ति न समझें कि आपके दर्शन ने हमारे हृदय में नूतन शक्ति का संचार किया है। प्रेम के उपदेश का कथन से फल नहीं होता, जो प्रेमी हैं उनके साथ ही प्रेम स्पर्शमान रहता है, उसके स्पर्श से हमारे भीतर जो प्रेम है उसका मूल्य बढ़ जाता है।

कुछ क्षणों के लिए आप हमें प्राप्त हुए हैं किन्तु इस घटनाको क्षण के माप द्वारा नहीं मापा जा सकता। जिन महापुरुषों का हृदय समस्त मानवों के लिए है, सम्पूर्ण देश ही जिनका देश है वे काल पर उपस्थितवत् अधिकार करते हैं, उसे अतिक्रम करते हैं। वे सर्वकालीन होते हैं। यहाँ आपकी क्षणिक उपस्थिति आश्रम के हृदय में स्थायी हो गई।

आपका जीवन सत्य में प्रतिष्ठित है। इस सत्य के प्रभाव को आप चारों ओर किस प्रकार विकीर्ण कर रहे हैं इस अल्प समय में ही इसका हमने अनुभव किया है। हमने जान लिया है कि हमारे सम्पूर्ण कार्य इस सत्यबोध के अभाव में प्रतिदिन व्यर्थ हो रहे हैं। अपराजेय सत्य के जोर से ही प्रेम का मंत्र इस शतधाविदीर्ण दुर्भाग्यपूर्ण देश के आत्मघाती भ्रातृविद्वेष के विष का अपनयन करेगा, विधाता के इस संकल्प के लिए ही आपका आविर्भाव हुआ है। अपनी उस चरित्रशक्ति का कुछ उद्यम हमारे आश्रमवासियों के मन में आपने संचार किया है इसमें मुझे संदेह नहीं है। आप हमारे कृतज्ञ चित्त का अभिनन्दन ग्रहण करें। एकान्तचित्त से यही कामना करता हूँ कि भगवान की कृपा से आप दीर्घजीवी होकर हमारे पीड़ित देश को आरोग्य के मार्ग पर ले आवें।"

गत १४ दिसंबर को कुछ घंटों के लिए बादशाहखान हमारे बीच पधारे। विश्वभारती के अधिकारियों ने उन्हें विश्वविद्यालय की सर्वोच्च सम्मानित उपाधि (देसिकोत्तम) से विभूषित करने का निर्णय किया था किन्तु बादशाह खान ने उसे स्वीकार नहीं किया। आम्रकुञ्ज में उनके स्वागत के लिए एक विशेष मंडप बनाया गया। कलात्मक ढंग से अलंकृत, प्राकृतिक वातावरण के सहज सौंदर्य से मंडित आम्रकुञ्ज में श्रद्धेय बादशाह खान को विश्वभारती के उपाचार्य ने मानपत्र भेंट किया। मानपत्र बंगला और उर्दू में था। बादशाहखान के

भाषण से कुछ अंश यहाँ हम उद्धृत कर रहे हैं—उन्होंने सरल सहभाषी में अपना भाषण दिया :—

"प्यारे बच्चों, बहिनों और भाइयों !

मैं सबसे पहले वाइसचांसलर साहब का शुक्रिया अदा करता हूँ कि उन्होंने मेरे लिए ऐसा एक मौका पैदा कर दिया कि मैं आपलोगों से मिल सका।

बहनों और भाइयों ! मैं कई साल के बाद हिन्दुस्तान आया हूँ और आप लोगों को याद होगा कि मैं १९३४ में शान्तिनिकेतन आया था और वह आपलोगों की और रवीन्द्रनाथ ठाकुर साहब की मुहब्बत अभी तक मेरे दिल में ताजी है। और आप लोगों ने उस वक्त जो एक नग़्मा सुनाया था—हालांकि मैं तो बंगला नहीं जानता लेकिन वह इस तरीके से आपने सुनाया कि वह अभी तक मेरे दिल में है। मुझे आप लोगों से मिलकर बहुत खुशी हुई। और आपको मालूम होगा कि मैं जो हिन्दुस्तान आया हूँ वह किस गरज से आया हूँ। भाइयों और बहनों—एक तो गरज यह थी कि गांधीजी की शती में शरीक हो जाऊँ और दूसरी गरज यह थी कि आपलोगों से मिल सकूँ। ये दो बातें मुझे खींचकर हिन्दुस्तान लाईं। मैं बंगाल से बहुत सी उम्मीदें लेकर आया हूँ, आप जानते हैं जब यह मुल्क गुलाम था तो भी हम देखते हैं कि इस मुल्क की बहुत बड़ी मदद की थी वह बंगाल ने की। दूसरे मुझे तालिबइल्मों से बहुत सी उम्मीदें हैं क्योंकि जब मैं दुनियाँ की तवारीख पढ़ता हूँ तो देखता हूँ कि तालिबइल्मों ने बड़े काम किए हैं—नेशन को तरक्की देने में सबसे बड़ा हिस्सा तालिबइल्मों का है। इससे मुझे खुशी है कि मैं आपसे मिला। आप कृपा करके आपका जो देश है इसके हालात को देखें। यह हमारा देश किस तरफ जा रहा है। आजादी की तरफ जा रहा है या बरबादी की तरफ जा रहा है। यह तो आपका काम है कि आप इस देश को बचाएं। मैं यह भी आपको बताना चाहता हूँ कि इसको बचाने के लिए आसमान से कोई नहीं आवेगा। आपको ही इसे बचाना है। आपने कुरबानी की तो मुल्क बनेगा। आपकी तवज्जुह उस ओर होनी चाहिए। आपको मालूम होगा कि हमारे इस मुल्क की, जब हम गुलाम थे, दुनिया में इज्जत थी। आज आपको मालूम है कि आपके मुल्क की क्या हालत है। दिल्ली में काका साहेब (कालेलकर) मिले—उन्होंने कहा कि मैं जापान से आ रहा हूँ। वहाँ जापानियों ने कहा कि पहले हिन्दुस्तान की बड़ी इज्जत थी—इस समय कोई इज्जत नहीं है। मैं इसलिए आपके पास आया हूँ कि आपको तवज्जुह दिलाऊँ कि दुनिया में हमारी इज्जत क्यों गिर गई।

बाईस साल हो गए, हमारा मुल्क आजाद है—और आप देखें कि कपड़े की, अनाज की यहां कमी है। बाईस साल हो गए, हम अपने पेट के लिए अनाज पैदा न कर सके। छोटे छोटे मुल्क हैं—उनसे हम अनाज मांगते हैं, पैसा भी मांगते हैं। मैं कहता हूँ कि इस पर भी गौर करना चाहिए।

यह बात बार बार कही जाती है कि हिन्दुस्तान में डेमोक्रेसी है, तहरीकी आजादी है, जो कोई जो कुछ चाहे बोल सकता है, जो चाहे सो अखबार में छपा सकता है, ठीक है, आजादी है, लेकिन यह आजादी किस काम की मेरे लिए, यदि मैं भूखा हूँ, मेरे बच्चों के लिए तालीम का इंतजाम चाहिए। हम तकरीर से क्या करें। हमें तहरीर और तकरीर की इतनी जरूरत नहीं है। जनता को रोटी चाहिए, घर चाहिए, कपड़े चाहिए, बच्चों को तालीम चाहिए। इसलिए बच्चों! मैं तुम्हारे यहां आया हूँ कि तुम अपने देश के लिए तरक्की के लिए सोचो और काम करो।

हमारे मुल्क में विदेशी हुकूमत थी। गान्धीजी के नेतृत्व में हमने विदेशी हुकूमत से लड़ाई लड़ी। हम हुकूमत के लिए अंग्रेजों के साथ नहीं लड़े, इसलिए लड़े कि अंग्रेज यहाँ से निकल जावेगा तो मुसीबतें, नफरत खत्म हो जावेगी। मैं कई साल बाद यहाँ आया हूँ। हम देखते हैं कि हमारी हुकूमत है। शहरों में तो कुछ तरक्की हुई है, बड़े बड़े महल बने हैं, खूबसूरत सड़कें बनी हैं, लेकिन जब देहात में जाता हूँ क्योंकि कौम देहात में रहती है, तो वहाँ क्या देखता हूँ, वही पुराना चक्कर, वही गरीबी, वही मुसीबत, वही झगड़े, वही नफरत, इसलिए मैं आपको तवज्जुह कराना चाहता हूँ कि आप इस मुल्क की दशा पर गौर करें।

धर्म के नाम पर झगड़े होते हैं। काटो, मारो के नारे लगाए जाते हैं, हिन्दू मुसलमान के नाम से झगड़े होते हैं, हेटरेड (घृणा) पैदा की जाती है। भाइयों और बहनों! हेटरेड (घृणा) मत करो, जिसके दिल में हेटरेड (घृणा) है उसके दिल में धर्म नहीं है। आप देखिए कि धर्म दुनिया में आए कैसे तथा क्यों आए। जब दुनिया में गड़बड़ी होती है तब परमात्मा एक इंसान भेजता है—यह समझाने के लिए कि तुम दरिंदे नहीं, धर्म करो। धर्म और प्रेम को समझाने के लिए आता है। ये परमात्मा का धर्म इंसानियत है, प्रेम है, मुहब्बत है, खुदा की मखलूकी खिदमत है। धर्म के नाम पर झगड़े क्यों?

जो मैंने कहे ये हमारे सामने मसले हैं—इन मसलों को आपको हल करना है। इंसान खुदगरजी के कारण अंधा हो जाता है। मजहबी झगड़ों में सबको नुकसान होता है। यह धार्मिक झगड़ा है, लोग कहते हैं कि यह सियासी झगड़ा है, मैं कहता हूँ कि यह कैसी सियासत

है। आपकी करोड़ों रुपयों की तिजारत है मुसलमानी मुल्कों से। बंगाली लोग इस पर गौर करें, पूर्वी पाकिस्तान में हिन्दू हैं। मजहबी जंग चलाएंगी तो अफगानिस्तान में, ईरान में हिन्दू हैं। रबात कान्फ्रेंस में हिन्दुस्तान के साथ जो हुआ वह और अहमदाबाद में जो झगड़ा हुआ इसकी वजह से हुआ।

आखिर में तालिबइल्मों से खिदमत करता हूँ। मुल्क जल रहा है, आपको चाहिए कि आप अपना सब वक्त नहीं दे सकते तो कम से कम छुट्टियों में तो गांवों में जाकर काम करें। एक-एक गांव में जावें, गांववालों को समझावें कि बाबा मुल्क तो तुम्हारा है, हुकूमत तुम्हारी है, तुम जिसको चाहो उसे बिठा सकते हो। हिन्दुस्तान का मसला तुम्हारा है—लोगों को समझाओ और उनसे कहो कि ऐसे लोगों को हुकूमत पर बैठाओ जो सच्चे हों, जो मुल्क के लिए काम करनेवाले हों।

यहाँ महिलाएँ हैं, उनको मुल्क के कामों में पूरा हिस्सा लेना चाहिए। जिन कौमों के साथ औरतें नहीं वे पिछड़ जाती हैं। मर्द और औरत गाड़ी के दो पहियों के समान हैं, एक खराब होने पर गाड़ी नहीं चल सकती। महिलाएँ यह न समझें कि आप छोटी हैं, बड़ाई, छोटाई इंसान के नेक होने पर है।'

बादशाहखान की यह यात्रा शान्तिनिकेतन को सदा प्रेरणा देती रहेगी। वे अध्यापकों और विद्यार्थियों से बड़े स्नेह से मिले। उनकी सरलता और निष्कपटता से कोई प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। जब वे आ रहे थे तो कुछ लोगो ने नारे लगाए—'बादशाहखान जिन्दाबाद,' अपनी प्रशंसा उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी, अत नारे लगानेवालों की ओर संकेत करते हुए उन्होने नारे लगाना बंद करने को कहा। स्कूल के बच्चे और बच्चियाँ उनसे बराबर स्नेह पा रही थीं। हस्ताक्षर चाहनेवालो को निराशा भी हुई क्योकि बादशाहखान हस्ताक्षर (ओटोग्राफ) नहीं देते। संतो और सज्जनो की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनका सजीव रूप खान अब्दुल गफ्फार खां हैं।

स्व० डा० माताप्रसाद गुप्त

अक्टूबर ७० को डा० माताप्रसाद गुप्त का आकस्मिक निधन हो गया। गुप्तजी से सितंबर १५ को हमने आगरा में उनके घर पर भेंट की थी। वे कुछ दिनो से अस्वस्थ थे, किन्तु उनसे बात करके ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी कि वे इतनी जल्दी चले जायेंगे। 'सूरसागर' का संपादन कार्य उन्होंने समाप्त ही किया था, और वे योजना बना

रहे थे कि आदिकालीन हिंदी साहित्य पर एक ग्रंथ लिखें। उन्होंने अरसंगवश इच्छा व्यक्त की थी कि कुछ दिन वे शान्तिनिकेतन रहकर यहाँ के पुस्तकालय का उपयोग करेंगे। अपने घर के बाहर तक वे हमें छोड़ने भी आए थे। उनकी बातचीत से हमें ऐसा कोई आभास नहीं मिला कि वे इतने गंभीररूप से अस्वस्थ थे। उनके निधन से हिन्दी-जगत् की बहुत बड़ी क्षति हुई है। उनकी अवस्था इकसठ वर्ष की थी।

वे पाठालोचन के बहुत गंभीर विशेषज्ञ थे। सन् '४२ से उन्होंने उस दिशा में कार्य करना आरंभ किया। हिन्दी क्षेत्र में उस समय पाठालोचन को उचित महत्व नहीं दिया जाता था। डा० गुप्त प्रतिभासंपन्न विद्वान थे, उनकी सूझ मौलिक थी। सच्चे अर्थों में वे एक अध्ययनशील एकेडेमिशियन थे। सबसे पहले उन्होंने 'रामचरित मानस' का प्रामाणिक संस्करण निकाला। विद्वज्जगत में इस संस्करण की जैसी चर्चा होनी चाहिए थी वैसी नहीं हुई। उसके पश्चात् पद्मावत, छिताईवार्ता, मधुमालती, बीसलदेव रासो, पृथ्वीराजरासो, कबीर आदि रचनाओं के प्रामाणिक संस्करण डा० गुप्त ने प्रकाशित किए। इन कृतियों का आदर भी हुआ और गुप्तजी के प्रयासों के फलस्वरूप हिन्दी-जगत् में पाठालोचन के महत्त्व को उचित स्थान मिला। आज अनेक विश्वविद्यालयों में हिन्दी के उच्चतम पाठ्यक्रम में पाठालोचन को स्थान दिया जा रहा है। गुप्तजी सूरसागर का प्रामाणिक पाठ भी संपादित कर गए हैं। आशा है सरकार उसे शीघ्र ही प्रकाशित करेगी।

विद्यापति, कबीर, फरीदा, चंदबरदाई जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण कवियों और साहित्य के नाना प्रश्नों पर गुप्तजी ने अपने विद्वत्तापूर्ण लेखों में मौलिक ढंग से विचार किया है विद्या वास्तव में उनका व्यसन था। अनेक विद्वत्संस्थाओं से उनका संबंध था। प्रयाग विश्वविद्यालय से वे राजस्थान विश्वविद्यालय में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष पद पर गए। वहाँ से आगरा विश्व विद्यालय में क० मुंशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ के निदेशक पद पर आए। हम गुप्तजी की स्मृति के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करते हैं। भगवान् से दिवंगत आत्मा की शान्ति के लिए प्रार्थना करते हैं तथा उनके परिवार के प्रति हार्दिक संवेदना प्रकट करते हैं।

—रामसिंह तोमर
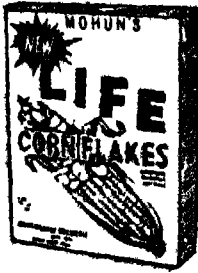
पौष्टिक तत्वों से भरपूर।
मोहन्स न्यू लाइफ कार्न फ्लेक्स तथा व्हीट फ्लेक्स दिन प्रतिदिन के कार्य के लिये आपके शरीर को आवश्यक प्राकृतिक पौष्टिक तत्व प्रदान करते हैं। मोहन्स फ्लेक्स का प्रयोग कीजिये और स्वादिष्ट नाश्ते का आनन्द लीजिये।
MOHUN'S
NEW
LIFE
CORNFLAKES
MOHUN'S
NEW
LIFE
WHEAT FLAKES
मोहन्ज
न्यू
लाइफ
फ्लेक्स
११२ वर्ष से अधिक का
अनुभव विश्वास की गारन्टी है
मोहन मीकिन ब्रुअरीज लि०
स्थापित १८५५
मोहन नगर (गाज़ियाबाद) यू० पी०
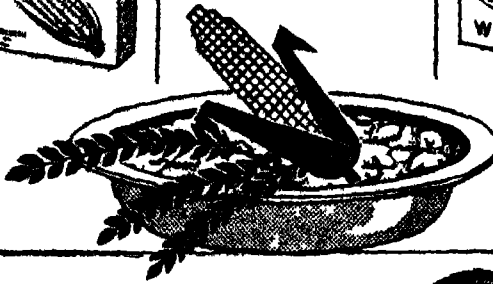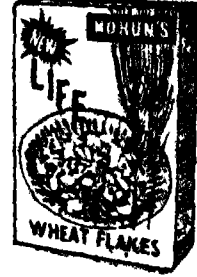
मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल
के प्रकाशन

(१) अक्षर अनन्य संपादक—श्री अंबाप्रसाद श्रीवास्तव। मूल्य १५)

(२) मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और तुलसीदास शोध की दिशाएं—डा० मनोरथ मिश्र। मूल्य ४)

(३) भारतीय दर्शनों का समन्वय डा० आदित्यनाथ झा। मूल्य ५)

(४) सहज-साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी। मूल्य ३॥)

(५) भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (सचित्र) डा० हीरालाल जैन। मूल्य १०)

(६) कलचुरि नरेश और उनका काल (सचित्र) म० म० डा० वि० वि० मिराशी। मूल्य ७)

(७) पाणिनि परिचय स्व० डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मूल्य ४॥)

(८) नाट्य कला मीमांसा डा० गोविन्ददास। मूल्य ३॥)

(९) भारत में आर्य और अनार्य डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या। मूल्य २)

(१०) बुन्देलखण्डी लोक-गीत स्व० श्री शिवसहाय चतुर्वेदी। मूल्य ३)

(११) कला के प्राण बुद्ध (सचित्र) : श्री जगदीशचन्द्र। मूल्य १०५०)

(१२) कीचक वध : श्री खाडिलकर। मूल्य २)

(१३) भारतीय सहकारिता आन्दोलन श्री ओमप्रकाश शर्मा। मूल्य २)

(१४) धरती के जलजले : श्री कृ० शि० मेहता। मूल्य १॥)

(१५) अंगारों की सन्नियां : श्री गौरी शंकर लहरी। मूल्य ०७५)

प्राप्ति-स्थान

सचिव, मध्यप्रदेश शासन—साहित्य परिषद्,
भाषा संचालनालय, पुराना सचिवालय, भोपाल।